मणि-दीप

लेखक

विनोदशङ्कर व्यास

प्रकाशक

काशी

मेरी लगन

संसार में मनुष्य अपनी लगन से कोई भी कठिन कार्य पूर्ण कर सकता है। यह एक अटल सत्य है। युवावस्था में ही मेरी कहानियों की ओर विशेष रुचि थी। मेरा अधिकांश समय उपन्यास और कहानियाँ पढ़ने में व्यतीत होता था। विश्व के महान कलाकारों की कृतियों ने मेरे जीवन में स्फूर्ति उत्पन्न की। मुझे लिखने की प्रेरणा मिली; किन्तु अपनी अयोग्यता पर ध्यान आते ही मैं हताश हो जाता था। इतने महान लेखकों की रचनाओं के सम्मुख मेरी कृतियों का महत्त्व ही क्या होगा? यह प्रश्न प्रायः मन में उठता था। मैं कहानियाँ लिखकर रखता जाता और जो कुछ पसन्द नहीं आतीं उन्हें फाड़ कर फेंक देता। यही क्रम वर्षों तक चलता रहा।

मेरी आरम्भिक कुछ कहानियाँ ऐसी थीं, जिन पर मेरी ममता थी। बड़े संकोच से मैंने उन कहानियों को गुरुवर प्रसाद को दिखलाई। उन्हीं के आदेशानुसार वे 'माधुरी' में प्रकाशित हुईं। तब से कहानियाँ लिखने की मेरी लगन प्रबल हुई।

आर्थिक और परिवारिक उलझनों के कारण मैं बहु-धंधी बना। अपनी लगन में कभी-कभी वर्षों का अन्तर पड़ा। यही कारण है कि १९३० ई० के बाद मेरा साहित्यिक जीवन शिथिल सा रहा।

१९४२ ई० में मैं एक रियासत की मैनेजरी छोड़ कर बैठ गया। तब से फिर लेखन और पुस्तक-प्रकाशन के कार्य में लगा हूँ। यह छोटा नवीन कहानी संग्रह मणि-दीप उपस्थित कर, अब मैं कहानी के क्षेत्र से फिर अवकाश ले रहा हूँ। मेरी उस लगन को सफल या असफल जो कुछ आप चाहें समझें।

इस संग्रह में केवल गूंगे का गुड़ १९४२ ई० के पहले की लिखी कहानी है। शेष सभी कहानियाँ १९४४ ई० में ही लिखी गई हैं। कागज़ के नियंत्रण के कारण दो पेज सूची के लिए नहीं दिया जा रहा है।

भविष्य में यदि जीवित रहा तो उपन्यास लिखने का ही विचार है। 'अशान्त' के बाद दूसरा उपन्यास 'हाथी के दाँत' प्रेस में है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

विनोदशङ्कर व्यास।

बन्धन-मुक्त

'वे दिन भूल गये जब कहते थे कि तुम जैसा कहोगी वैसा ही करूँगा।'

'और तुम भी भूल गयीं कि तुम्हारे साथ किसी भी अवस्था में रहकर मैं प्रसन्न रहूँगी।'

'मैं तो आज भी अपने बचन पर दृढ़ हूँ, लेकिन तुम अपने मनकी ही करते हो, मेरा तनिक भी ध्यान नहीं रहता।'

'तुम यह कैसे समझती हो?'

'दो घड़ी मेरे साथ बैठकर हँसने बोलने का तुम्हें अवकाश ही नहीं मिलता। तुम अपने मित्रों के साथ 'टेनिस' में ही उलझे रहते हो। मैं दिनभर की थकी विद्यालय से लौट कर तुम्हारी ही प्रतीक्षा में बैठी रहती हूँ।'

'मानव स्वभाव है कि वह अपने को व्यस्त रखने के लिए कोई व्यसन बना लेता है। मुझे 'टेनिस' प्रिय है, तुम्हें चिड़ियों को पालतू बनाकर उनकी बोली सुनने में आनन्द आता है।'

'जीवन परिवर्तन के आवरण में ढँका रहता है। एक समय था जब मेरी बातें हीं तुम्हें मधुर प्रतीत होती थीं; किन्तु अब उनसे दूर हटकर तुम भी अपना एक व्यसन चाहते हो।'

'यह तुम्हारा भ्रम है नीला!'

'पुरुष का स्वभाव भ्रमर के समान है जो रस लेकर खिसक जाना चाहता है।'

'लेकिन वह कमल के पत्रों में बँध जाता है, इसे क्यों भूल जाती हो ?'

नीला प्रसन्न हो गयी।

सुरेश उसकी ओर गूढ़ दृष्टि से देख रहा था। नीला की आकृति पर बिखरे हुए असीम सुखों का इतिहास सजीव हो उठा। अस्ताचल पर जानेवाले सूर्य की किरणें आम के वृक्ष की मञ्जरियों को सुनहला अवगुन्ठन देकर विलीन हो जाना चाहती थीं।

सुरेश ने नीला को छेड़ते हुए कहा—तुम्हारी बातों से प्रतीत होता है कि तुम मुझसे असन्तुष्ट-सी रहती हो। बहुत दिनों से तुम्हें चिन्तित और अनमनी देखकर मैं मन ही मन सोचता था कि इसमें रहस्य क्या है, किन्तु आज तुमने स्वयं स्पष्ट कर दिया।

'मैं असन्तुष्ट नहीं हूँ। मेरी धारणा होती जा रही है कि तुम अब पहले जैसे नहीं हो।'

'अवस्था और समय के साथ निरन्तर मानव की गति में शिथिलता स्वाभाविक है। अल्हड़पन के दिन प्रौढ़ता के पदचिह्नों पर चल कर थक जाते हैं। यौवन का उन्माद समुद्र की उत्ताल तरङ्गों की भाँति स्थिर हो जाता है।'

'उसी भाँति तुम भी स्थिर हो गये हो ?'

'नारी की भूख अतृप्त बादलों के समान है, जो बरसकर भी भरने की लालसा में मंडराते फिरते हैं।'

'नारी की भूख एक थपकी, एक मुस्कान और एक मधुर शब्द से शान्त होती है।'

'तुम चाहती हो कि इसी तरह मुस्कान के साथ थपकियाँ देकर मैं मधुर बातों में तुम्हें उलझाये रहूँ? लेकिन सुनो नीला! पुरुष साहसी होता है, उसे यश और कीर्ति की अनन्त आकांक्षाएँ घेरे रहती हैं। वह उन्हीं के लिए तन्मय हो जाता है। उसके चैतन्य और लक्ष्य के कारण ही नीरसता का वातावरण उपस्थित हो जाता है।'

'आज तक अपने लक्ष्य और आकांक्षा के सम्बन्ध में तुमने तो मुझे कुछ बतलाया नहीं।'—उत्सुकता से नीला ने पूछा।

'समय आने पर तुम्हें ज्ञात हो जायगा।'—सुरेश ने कहा।

(२)

नगर के समीप ही एक वाटिका में सुरेश और नीला रहते थे। लता, फूल और वृक्षों से भरी वाटिका नीला की सुरुचि का परिचय देती थी। मौलश्री के वृक्ष पर पक्षियों के पिंजड़े टंगे रहते थे। उनकी मधुर बोली प्रभात के समय में नीला के जागरण का संकेत होती थी।

प्रतिदिन नीला स्वयं लाल, तोता, मैना और कोयल को अपने ही हाथों से दाना पानी देती थी। उसे पक्षियों से बड़ी ममता थी।

संध्या समय बालिका विद्यालय से पढ़ाकर नीला लौटी थी। वह अपने कमरे में बैठी थी। उसने देखा एक चिड़िया लालों के

पिंजड़े पर बैठी बड़े सुरीले स्वरों में बोल रही थी। उसने अनेक बार दूर से उसकी बोली सुनी थी। उसकी आकांक्षा थी कि अन्य चिड़ियों की भाँति वह भी पिंजड़े में रखकर पालतू बनायी जाय। उसे अपने समीप देखकर उसी भावना में वह उठी। उसने लल्लू को पुकारा। उसके आने पर नीला ने उसे पकड़ने के लिए लल्लू को उत्साहित किया।

लल्लू बगीचे के माली का लड़का था। बन्दरों को गुलेल द्वारा भगाने में वह कुशल था; किन्तु इस पक्षी के पकड़ने में उससे अधिक कुशलता की आवश्यकता थी। उसने पूछा—कैसे पकड़ूँ माँजी ?

नीला ने संकेत दिया।

कमरे का द्वार बन्द कर लल्लू एक चादर के सहारे इधर-उधर दौड़ता रहा। अन्त में थक कर चिड़िया लल्लू के हाथ लगी।

एक खाली पिंजड़े में उसे रखते हुए नीला को संतोष हुआ।

सुरेश जब दफ्तर से लौटा तो नीला ने उस पक्षी के संबंध में सब बातें बतलायीं। उसे उसके नाम, जाति और श्रेणी के प्रति जिज्ञासा थी।

सुरेश ने कहा—यह जंगली है नीला ! इसे पिंजड़े में बन्द रखना कठिन होगा।

'अपनी स्वन्त्रता खोकर दूसरे को बन्दी बनते देखने में स्वाभाविक सन्तोष होता है।'—नीला ने रूखी मुस्कान का सहारा लिया।

'तुम स्वच्छन्द पवन की भाँति स्वतंत्र हो, यह तुम्हारा मिथ्या आरोप है। तुम्हारे मार्ग में कभी भी मैं बाधक नहीं रहा हूँ। मैं स्वयं बन्धन में पड़ा हूँ।'

मेरे कारण ही तो यह सब बन्धन है। मैं समझती हूँ कि मैं बोझ हो रही हूँ। नारी का जीवन ही ऐसा है! अपना सब कुछ देने पर भी उसका कुछ नहीं रहता।'—नीला की आँखें सजल हो गयीं।

'लोग समझते हैं कि हम लोग सुखी-जीवन व्यतीत कर रहे हैं; किन्तु हम लोगों का जीवन उस विशाल वृक्ष की तरह है जो भीतर से खोखला है; लेकिन देखने में हराभरा खड़ा है।'—गम्भीर होकर सुरेश ने कहा।

इस अप्रिय प्रसंग के कारण भोजन में भी विलम्ब हो रहा था।

नीला ने पूछा—थाली लाऊँ ?

'आज भूख नहीं है।'

'मेरी बातों से रुष्ट हो गये क्या ?'

'सोचता हूँ कि तुम्हें सन्तुष्ट और सुखी रखने में मैं असफल रहा। स्त्रियों की विभूती है कि पारिवारिक जीवन को व्यवस्थित रखें, भोजन बनाएँ और गृहस्थी का कार्य करें, लेकिन आरम्भ से ही तुम्हारी रुचि इस ओर नहीं रही। शिक्षित होने से भले हो तुम अध्यापिका बन कर मासिक वेतन घर ले आती हो; किन्तु......'

'रुक क्यों गये ? कहो न सन्तान उत्पन्न करने वाली मशीन

और भोजन बनाने वाला 'कुकर' बनकर रहने में ही स्त्रियों को मर्यादा है।'

'तुम्हें मालूम होना चाहिये कि विश्व विजय का स्वप्न देखने वाले नाजी जर्मनों का भी यही सिद्धान्त है। प्रत्येक दिशा में उन्नति और आश्चर्य उपस्थित कर के भी वे स्त्रियों की स्वतन्त्रता के समर्थक नहीं हैं।'

'इसी लिए एक दिन उनका सर्वनाश निश्चित है।'

'लेकिन यह मानना हो पड़ेगा कि स्त्रियों की मनोवृत्ति उस मियादी जर्मन बम की तरह है जो अपनी अवधि समाप्त कर के विस्फोट करता है।'

नीला सुरेश के पास से हट कर चली गयी। तर्क बढ़ा कर अधिक कटुता उत्पन्न करना उसने उचित नहीं समझा; किन्तु अनेक बार अनुरोध करने पर भी उस दिन सुरेश ने भोजन नहीं किया। विवश हो कर नीला को भी उपवास करना पड़ा। पारिवारिक जीवन में इस अनायास एकादशी के व्रत ने नीला और सुरेश को अधिक गम्भीर बना दिया।

(३)

उस जंगली चिड़िया का नाम फुलसुंघी था।

लल्लू ने पता लगा कर नीला को उसका नाम बतलाया। जब से पिंजड़े में वह बन्दो बनायी गयी तभी से उसने दाना पानी छोड़ दिया था। नीला को आश्चर्य था कि सचमुच क्या वह फूल सूँघ कर ही रहती है?

उसे अपने जोवन से घृणा हो रही थी। वह अपनी जीविका

के लिए धन भी उपार्जित कर लेती है, फिर भी सुरेश के बन्धन में पड़ी वह नीरस दिन व्यतीत कर रही है। यह सब उसे असह्य हो गया था।

उस दिन से आपस में अनबोला था। सुरेश आकर अपने कमरे में चला जाता और नीला अपने कमरे में रहती।

सुरेश की मानसिक व्यग्रता इतनी बढ़ गयी थी कि रात कोरी आँख कट जाती। प्रभात की सफेदी में वह अपनी आँखों की लालिमा धो देने का प्रयत्न करता। यह सब जानते हुए भी नीला अनजानसी बनी थी। कटुता के पौधे पनपने लगे।

अन्त में अपने निश्चित निर्णय की सूचना देने के लिए सुरेश अर्धरात्रि के समय नीला के कमरे में गया। नीला जागते हुए भी सोई थी।

सुरेश उसके पलंग पर न बैठ कर पास में पड़ी एक कुर्सी पर ही बैठ गया। लम्प के धीमे प्रकाश में वह चुपचाप नीला को देख रहा था। नीला ने एक ठण्ढी साँस ली।

सुरेश ने कहा—सुनती हो ?

आश्चर्य की आकृति बनाते हुए नीला उठ बैठी। उसने पूछा—कहिये ?

'मैं इस समय तुम्हें इसी लिए कष्ट देने आया हूँ कि अब और अधिक उलझन में तुम्हें नहीं रखना चाहता।'

'कैसी उलझन ?'

'मैं अब जा रहा हूँ। निकट भविष्य में लौटने की सम्भावना भी नहीं है। तुम्हारी इच्छा हो तो यहीं रहो नहीं तो अपने घर

चली जाना। मेरे संसर्ग से तुम्हें छुटकारा मिलेगा। मुझे विश्वास है कि अपनी व्यवस्था तुम सफलतापूर्वक कर लोगी।'

'आप कहाँ जा रहे हैं?'

'इसे पूछ कर क्या करोगी। समझ लो कि अपने अस्तित्व को मिटाने के प्रयत्न में संलग्न रहूँगा। जीवन से अधिक ममता बढ़ा कर, इस समस्त विश्व का वैभव और ऐश्वर्य खरीद कर भी कोई सुखी नहीं रह सकता नीला! ऐसा मेरा विश्वास हो गया है। परिस्थितियों के चक्र में सब कुछ बदल जाता है। वे हँसते हुए दिन निराशा के आवरण में ढँक जाते हैं। जीवन के उज्ज्वल पट पर प्रकाश की धुंधली रेखाएँ विलीन हो जाती हैं। मानव पशु-सा निरीह हो जाता है।'

'आप कैसी बातें कर रहे हैं?'

'मैं ठीक कह रहा हूँ। वर्तमान शिक्षा और पाश्चात्य देशों के शिष्टाचार का अनुकरण कर हम अपनापन खोते चले जा रहे हैं। एक दिन तुमने ही कहा था कि 'मैं भोजन बनाने वाली रसोईदारिन नहीं हूँ।' स्त्रियों को अधिक शिक्षित बना कर गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट करना ही भूल है।'

'यह आप कैसे कह सकते हैं? पाश्चात्य देशों में क्या पारिवारिक जीवन लोग नहीं व्यतीत करते। रूस में स्त्रियों ने जितनी उन्नति की है, उतनी संसार की किसी भी जाति ने नहीं की है।'—नीला ने गर्व से कहा।

'रूसी विचार रखते हुए भी न्यायालय के सम्मुख तुम मुझ

से अलग होने का अधिकारपत्र नहीं माँग सकती हो ! ऐसा क्यों !'

'भारतीय नारी समाज को यह शोभा नहीं देता।'

'अन्य सब बातें शोभा देती हैं और यह शोभा नहीं देती, यह कैसा तर्क है ? जीवन भर पहाड़ तोड़ने से क्या लाभ ?'

नीला कक्षा में बालिकाओं के प्रश्न का उत्तर भलीभाँति समझाते हुए देती थी; किन्तु सुरेश के इस प्रश्न का उत्तर देने में वह असमर्थ थी।

सुरेश ने आवेश में कहा—यदि तुम न्यायालय से वह अधिकारपत्र लेना उचित नहीं समझती हो तो मैं स्वयं तुम्हें देता हूँ।

दोनों स्तब्ध होकर एक दूसरे को देखते हुए हट गये।

रात्रि के घने अन्धकार में नक्षत्रों का आलोक नीला के जीवन पथ पर छाया फेंक रहा था।

× × × ×

सुरेश को गये कई महीने बीत चुके थे।

नीला मन ही मन पश्चात्ताप करती। उसे विश्वास नहीं था कि इस तरह सुरेश उसे छोड़कर चला जायगा। वह लौट आवे तो नीला क्षमा-याचना करते हुए सदैव उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए प्रस्तुत रहेगी; किन्तु वह अवसर सीमा से अधिक दूर चला गया।

अचानक एक दिन सुरेश का पत्र मिला जिसमें उसने लिखा था कि वायुयान चालक की अपनी शिक्षा समाप्त कर के वह युद्ध

के मोर्चे पर जा रहा है। पत्र का अन्तिम अंश पढ़ कर नीला विचलित हो उठी। उसमें लिखा था—तुम मेरे बन्धन से मुक्त हो गयी हो। आत्महत्या कर के तुम्हारे बन्धन से मुक्त होने से अच्छा यही मार्ग मुझे उपयुक्त प्रतीत हुआ। देखूं कब वैसा होता है ?

विश्व के विशाल भाल पर मानवता का क्रूर प्रहार अपने अन्तिम प्रहर में पहुँच चुका था।

नियति के इस रक्तरंजित इतिहास का अन्तिम परिच्छेद कब समाप्त होगा ? नीला उत्सुकतापूर्वक सुरेश के लौटने की प्रतीक्षा में अपनी आँखें बिछाये हुए है। पता नहीं उसकी कामना कहाँ तक सफल होगी ?

गूंगे का गुड़

संसार में उत्पन्न होकर जो मनुष्य अधिक धन व्यय करता है, उसे खर्चीला और जो मितव्ययी होता है उसे कंजूस के नाम से सम्बोधित किया जाता है। दोनों ही स्थिति में टीका टिप्पणियों से किसी का छुटकारा नहीं। कृष्णानन्द के सम्बन्ध में भी दफ़्तर में यह बात सभी को विदित थी कि वह पान, सिगरेट अथवा किसी भी मादक वस्तु का व्यवहार नहीं करते। उनका कोट और टोपी कितने ही शीतकाल की आयु समाप्त करके भी बदलने के योग्य न हुए। यही कारण था कि कुछ लोग उन्हें शुष्क और नीरस समझते थे।

इन सब विशेषताओं के भीतर रहस्य था। कृष्णानन्द बाह्य आडम्बर के लिये शून्य थे। अपनी रहन सहन के लिये लज्जित होना उनके स्वभाव के विपरीत था। मासिक वेतन पत्नी को सहेज कर वह निश्चिन्त हो जाते थे। पारिवारिक प्रबन्ध से जैसे उनका कोई सम्बन्ध ही न रहता। प्रति दिन नियमित रूप से दफ़्तर जाना और संध्या समय लौट आना—यही उनका कार्यक्रम था।

कृष्णानन्द कभी पत्नी से मतभेद होने पर अथवा कभी मितव्ययता का सम्पूर्ण चित्र देख कर झुँझला उठते थे, किन्तु पत्नी बड़े आवेग में जब कुछ कहती तो वह मौन ही खड़े रह जाते। कन्या के विवाह का एक मात्र श्रेय इसी मितव्ययता को ही था और पुत्र के उज्ज्वल भविष्य का भाग्य भी इसी में अन्तर-निहित था। कृष्णानन्द इस सत्य में विश्वास करते थे।

बीसवीं शताब्दी में जैसे मशीन की भाँति मनुष्य चलता है वैसे ही दिन और रात भी अपना कार्यक्रम पूरा करते रहते हैं।

कृष्णानन्द के जीवन में एक भूकम्प जैसी घटना टूट पड़ी। नियति का चक्र था। इस ढलती अवस्था में पुत्र शोक के कारण, कृष्णानन्द का हृदय टूट गया, कमर झुक गई और आँखों का प्रकाश मन्द पड़ गया। मशीन की खट खट बन्द हुई। जीवन का उद्देश्य शिथिल पड़ गया। शान्त वातावरण ने गंभीरता का स्वरूप धारण किया।

निराशा का बोझ लादे जब संध्या समय कृष्णानन्द घर

आते तो पत्नी का विलाप उन्हें और भी व्यग्र बना देता। वह चुपचाप अपने कमरे में पड़े रहते। अनेकों बार समझाने का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। कृष्णानन्द ने सान्त्वना देते हुए पत्नी से कहा था—भगवान की जैसी इच्छा! मनुष्य अपना कार्य पूरा करता है, किन्तु विधाता के निर्णय में कौन बाधा दे सकता है।

पड़ोस, परिचित और दफ्तर में सभी के प्रश्नों का उत्तर कृष्णानन्द हृदय सम्हाल कर देते, किन्तु महीनों बाद रात में अपने पलंग पर पड़े हुए उनकी दृढ़ता का बाँध टूट गया। अश्रु की धारा वेग से बहने लगी।

पत्नी ने सिसकियों के मध्य में आकर पूछा—यह क्या?

तब उनका अधीर मन केवल इतना ही कह सका—अब दफ्तर जाने का साहस नहीं रहा। नौकरी पहाड़ हो गई है। कुछ अच्छा नहीं लगता।

(२)

डाक्टरी परीक्षा और अधिकारियों के पास प्रार्थना-पत्र में महीनों व्यतीत होने के पश्चात कृष्णानन्द को नौकरी से अवकाश मिला। पेन्शिन स्वीकृत हुई। पत्नी के आग्रह पर तीर्थयात्रा का निश्चय हुआ। मथुरा-वृन्दावन के मन्दिरों में दर्शन-पूजा में कुछ दिन कटे। मन्दिरों की आरती, भगवान की उपासना में शंखध्वनि, घड़ी घन्टा का आयोजन कृष्णानन्द को वैसा ही मालूम पड़ता जैसे पानीकल, बिजलीघर अथवा कारखानों का भोंपू निश्चित समय की सूचना देते हुए कर्मचारियों को कार्य में लगने

और अलग होने का संकेत देता है। मनुष्यों ने भगवान को भी नियंत्रित किया है। ठीक समय पर स्नान, पूजा, आरती और शयन का क्रम बना कर सब कार्यों को नियमित बना दिया गया है।

पंडा, पुजारी और भिखारियों की जटिल समस्या के सम्मुख कृष्णानन्द नत मस्तक होकर देखते ही रह जाते। ऐसे अवसर पर उनकी पत्नी के सहयोग से मुक्ति मिलती। जो जितना देगा, उसे उतना ही फल मिलेगा, यह पहेली बड़ी सरल प्रतीत होती है।

संध्या समय कृष्णानन्द अकेले यमुना के तट पर बैठे हुए कछुओं को चना खिलाते। पता नहीं क्यों मनुष्यों से अधिक उन्हें पशु, पक्षी और जन्तुओं के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती। जब वह मुट्ठी भर चना फेंक कर, कछुओं की गर्दन बाहर निकली देखते तो मन-ही-मन मनुष्यों के स्वार्थ की तुलना करने लगते। ठीक ऐसा ही तो मानव-स्वभाव भी है, तनिक से स्वार्थ के नाम पर मनुष्य कितना विनम्र हो जाता है, किन्तु क्षण भर में ही कछुओं के मुख के समान वह गुप्त हो जाता है।

. दो सप्ताह बीत जाने पर एक दिन कृष्णानन्द की पत्नी ने कहा—इतने मन्दिरों और महात्माओं का दर्शन करने पर भी मन शान्त न हुआ। कोई नहीं बतला सका कि मनुष्य कहाँ से आता है और कहाँ और क्यों चला जाता है ? मरने पर उसका क्या होता है ? यही समझने के लिए इतनी दूर आई थी। चलो अब यहाँ से भी चला जाय।

कृष्णानन्द कौतूहल से पत्नी का मुख देखने लगे। उन्होंने

कहा—प्रत्येक धर्म और दर्शन अपनी व्याख्या अपने तर्कों के अनुसार करते हैं। मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, इसके लिए अनेकों उपदेश धर्मग्रन्थों में मिलते हैं, लेकिन शरीरान्त के बाद क्या होता है, इसको कौन बतला सकता है ?

पत्नी ने कहा—ज्ञानियों ने मार्ग बतलाया है, किन्तु उस पर विश्वास नहीं होता।

कृष्णानन्द ने अपने मस्तक पर हाथ रखते हुए कहा—मुख्य बात यह है कि जिसका यहाँ अधिक आदर होता है उसका वहाँ भी होता है। असमय में ही निमंत्रण पाकर जो चला जाता है, वही बन्धन-मुक्त होता है। उसकी बन जाती है। लेकिन जिन्हें समुद्र की लहरों जैसा जीवन और आकाश पर फैली जैसी आकांक्षाओं का क्षेत्र दिखाई पड़ता है वह यहीं रह कर अन्तकाल तक यातनाओं की खाई खोदते हैं।

उसी समय पंडा ने आकर कहा—बाबूजी गाड़ी का समय हो रहा है।

(३)

कृष्णानन्द का अधिकांश समय धार्मिक ग्रन्थों में ही व्यतीत होता। पत्नी के अनुरोध पर उन्होंने काशी में शेष जीवन काटना निश्चित कर लिया था। प्रातः काल गंगा स्नान और विश्वनाथ का दर्शन करके वह संतुष्ट रहते। वह संध्या समय कथा सुनने जाते। उन दिनों एक त्यागी महात्मा की चर्चा सभी जगह चल रही थी। कृष्णानन्द भी प्रति दिन वहाँ जाते।

धार्मिक कथा और पुराणों का प्रभाव जनता के ज्ञान बढ़ाने में कितना सहायक होता है, यह तो कृष्णानन्द को विदित न हुआ, किन्तु कथा कहने वाले महात्मा के व्यक्तित्व और त्याग की चर्चा सर्वत्र ही भक्तों द्वारा सुनाई पड़ती थी। महात्माजी एक ही वस्त्र धारण करते हैं, कोई कुछ भी रख जाय, वह उसे स्पर्श भी नहीं करते इत्यादि बातें श्रोताओं के मंडल में विख्यात थीं।

उस दिन कथा बन्द थी। कृष्णानन्द घाट पर बैठे थे। उस पार की घनी हरियाली जैसे उन्हें अपनी ओर खींच रही थी। वह एक नौका पर बैठ कर उस पार गये। सिकता पर अपना पद चिन्ह छोड़ते हुए कृष्णानन्द ने देखा सामने घाटों की विशाल अट्टालिकाएँ खड़ी हैं। गंगा की मुक्त धारा में बहने वाला पवन कभी दौड़ जाता। दिनकर अस्ताचल पर पहुँच चुके थे। महा-श्मशान पर चिता धधक रही थी।

कृष्णानन्द का मन उद्विग्न हो उठा। वह सोचने लगे—उस लोक में जाकर मेरा पुत्र विवश हो गया है, अन्यथा वह जैसे प्रतिदिन की पढ़ाई और खेल कूद की बातें बतलाता था, वैसे वहाँ की बातें वह मुझसे क्यों गुप्त रखता ?

सृष्टिकर्ता ने अपने इस रहस्यमय चित्र को प्रकृति के अव-गुंठन से ढंक रखा था। समस्त विश्व का आलोक उड़ेल कर भी वहाँ प्रकाश की छाया न थी।

कृष्णानन्द की आँखों के अश्रुकण सिकता में अपना अस्तित्व मिटा रहे थे। वे एक झोपड़ी के सामने आकर खड़े हुए।

इस निर्जन कानन में अकेले रहने वाले पुरुष की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ।

किसी आगन्तुक की आहट पाकर झोपड़ी के तपस्वी ने मधुरता से कहा—खड़े क्यों हो बैठ जाओ।

कृष्णानन्द ने आश्चर्य से देखा, वहाँ जलती अग्नि के अतिरिक्त और कुछ भी न था। कृष्णानन्द धूनी के पास ही बैठे। कुछ देर मौन रहने के बाद कृष्णानन्द ने पूछा—तपस्वी मेरा एक प्रश्न है!

'क्या?'

'इतने दिनों भटकने पर भी भगवान की महिमा का वास्तविक स्वरूप मेरी आँखों के सम्मुख कोई न रख सका। मैं मार्ग विहीन होकर भटक रहा हूँ।'

तपस्वी ने कृष्णानन्द की मलीन आकृति देखते हुए कहा—भाई, भगवान का स्वरूप तो भक्तों के आधीन है। लेकिन सुनो, वह तो गूँगे का गुड़ है। जिस तरह गूँगा गुड़ का स्वाद नहीं बतला सकता वैसे ही उसका स्वरूप और आराधना की प्रणाली भी रहस्यमयी है।

उस दिन से फिर कृष्णानन्द ने यह प्रश्न किसी से नहीं पूछा।

शून्य

वह गेरुआ-वस्त्रधारी युवक संन्यासी कुछ दिनों से नगर को गलियों का आकर्षण बन रहा था। बच्चों और स्त्रियों में कौतूहल उत्पन्न करने में वह प्रवोण था। नगरों में जिस तरह मदारी और भालू-बन्दरवालों के साथ बालकों का झुण्ड उलझा हुआ दिखाई पड़ता है, वैसा ही महत्त्व उस संन्यासी को भी प्राप्त था।

वह गोता का प्रवचन करता, गोभक्ति पर व्याख्यान देता और कभी देश की वर्त्तमान दुर्दशा का वर्णन करते हुए क्रोध से लाल हो उठता था। बच्चे आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगते थे।

'कोई गाना सुनाओ बाबा !'—किसी ने अनुरोध किया।

'भूख से पेट जल रहा है, कलेजा फट रहा है। कैसे गाऊँ भाई ?'

ऊपर खिड़की में से किसो दयालु रमणो ने एक चवन्नो गिरा दो। संन्यासी का उत्साह बढ़ा।

उसने कबीर का एक पद गाया। सब मुग्ध थे। उसके भाव-प्रदर्शन पर बच्चे भी हँस पड़े।

तान लगाता हुआ संन्यासी आगे बढ़ा। उसे अभी दूरतक जाना था। सन्ध्या की लालिमा अपने सब चित्रों को एकत्र करके कहीं छिप जाना चाहती थो।

मठ के समीप पहुँच कर उसने सामने खण्डहर को ओर दृष्टि दौड़ायो। किसो को न देखकर वह चुपचाप वहाँ खड़ा था।

उसने देखा, सामने झोपड़ी में से एक स्त्री हाथ में दीपक लिये आ रही है।

संन्यासी को खड़ा देखकर उसने चौंक कर पूछा—कौन है?

'मैं हूँ, नारायण।'

'इस समय यहाँ कैसे खड़े हो बाबा?'

'दिन भर का भूखा हूँ। चार आने पैसे मिले हैं। दूध पोकर ही सन्तोष करूँगा।'

'अभी दूध दुहने जा रही हूँ, मेरी गाय भूसा बिना टूट गयी है। समय का फेर है, अन्न के भाव भूसा हो गया है। कैसे जान बचेगी?'

सामने एक टाट पर नारायण बैठ गया। जमुना दूध दुह रही थी।

जमुना ने कहा—ऐसी प्यारी गाय है कि अपना पेट काट-कर इसे खिलाती हूँ, फिर भी इसका पूरा नहीं होता। कैसी दुबली हो गयी है! तीन सेर दूध देती थी; लेकिन अब देखो इतना ही शेष बचा है।

जमुना ने संन्यासी के पात्र में दूध देते हुए कहा—यह रक्त-मांस का नहीं, किन्तु सूखी हड्डियों का रस है।

(२)

निद्रा ने भूखे पेट को यन्त्रणा का राग सुनाया। मठ की काली दीवारें और सील की दुर्गन्ध ने नारायण के जीवन के प्रति निराशा का पहाड़ खड़ा कर दिया था। वह मुक्त पवन के साथ विचरनेवाला जीव पेट की समस्या लिये भटक रहा था।

समय बड़ा विकट था। मनुष्य का जोवन दीपक की लौ पर जलनेवाले पतङ्गों-सा हो गया था।

हा-हाकार का साम्राज्य था। देश में रोटी की समस्या ने इतना विकराल रूप धारण कर लिया था कि केवल पूँजीपतियों को छोड़ कर शेष सभी त्रस्त हो कुके थे। ऐसो स्थिति में भिक्षा-वृत्ति पर निर्भर करने वालों के भाग्य की कल्पना कितनी भयानक है!

नारायण प्रायः सभी प्रमुख तीर्थ-स्थानों का भ्रमण कर चुका है, उसे कहीं भी आश्रय का ठिकाना नहीं दिखाई पड़ता। उसके मन में ग्लानि थो। आज गोसेवा पर प्रभावशाली व्याख्यान देकर उसने एक गठरी भूसा प्राप्त किया था। एक पोटली में आटा और छः पैसे लेकर वह मध्याह्न समय ही जमुना के खण्डहर पर लौटा।

जमुना गोबर पाथ रही थी। भूसे को गठरी देख कर उसे कौतूहल हुआ। उसने पूछा—यह क्या बाबा?

'तुम्हारी गाय के लिए लाया हूँ। एक भक्त पैसा दे रहा था। मैंने कहा—मुझे भूसा दिलवा दो।'—नारायण ने एक ही साँस में कह डाला।

गाय भूखी थी। जमुना को एक सहारा मिला। उसने पूछा—और तुमने क्या भोजन किया?

'कुछ नहीं, आटा मिला है, वही बनाऊँगा।'

'यहीं बना लो, मैं आग सुलगा देती हूँ।'

जमुना ने सब प्रबन्ध कर दिया।

रोटी सेंकते हुए नारायण ने पूछा—तुम्हारे पति कहाँ हैं ?

'उसने विवाह के दो वर्ष बाद ही मुझे छोड़ दिया और दूसरी औरत ले आया।'—जमुना ने धीमे स्वर में कहा।

'अब कभी सामना नहीं होता ?'

'वह परदेस में रहता है, फिर लौट कर नहीं आया।'

क्यों छोड़ दिया ? क्या कारण था ?—इत्यादि बातें असङ्गत समझ कर नारायण मौन हो गया; किन्तु जमुना ने स्वयं स्पष्ट करते हुए कहा—सास झगड़ा करती थी। दिन-रात की किचकिच कब तक चलती, यही समझ कर मैं चली आयी। फिर उसने बुलाया नहीं।

किसी की करुण जीवन-गाथा सुन कर आत्म-कहानी जाग्रत हो उठती है।

नारायण ने बड़े यथार्थवादी स्वर में अपनी आप-बीती सुनायी। घण्टों बातें होती रहीं।

उस दिन नारायण के चले जाने पर जमुना के हृदय पर संन्यासी के गृहस्थ-जीवन की सुखद कल्पनाओं का वर्णन अङ्कित हो गया था। वह सोचती थी, जो जिस जीवन से अधिक दूर है, उसे वही जीवन मधुर मालूम पड़ता है।

अधिक रात तक जागकर भी जमुना की समझ में यह रहस्य नहीं आया कि संन्यासी ने स्पष्ट शब्दों में अपनी प्रेम-कहानी क्यों सुनायी ?

(३)

दिन पर दिन बीतने लगे।

जमुना और नारायण की घनिष्ठता बढ़ने लगी। प्रति दिन नारायण जमुना से बातें करके एक तरह का सन्तोष अनुभव करता था। जीवन की लालसाओं का आकर्षण बिजली की भाँति उसके मन में दौड़ जाता था। वह बावला होकर गुनगुनाने लगता; किन्तु शान्त होने पर गेरुआ रङ्ग उसकी समस्त आकांक्षाओं को बधिया बैल बना देता था।

अबोध नारायण घर से भाग कर अपनी अल्हड़ अवस्था में एक महन्त का शिष्य बना था।

दिन भर भटकने के बाद उस दिन खाली हाथ ही जब नारायण को लौटना पड़ा तो उसे चारो ओर निराशा का अन्ध-कार दिखाई पड़ा।

खण्डहर की झोपड़ी में प्रवेश करते हुए उसने देखा, जमुना उदास बैठी है।

नारायण को देख कर भी वह मौन थी।

नारायण उसके सामने बैठ गया। उसने पूछा—आज इतनी चिन्तित क्यों हो ?

'चिन्ता ही तो दुःखियों की खुराक है; लेकिन मैं अपने से अधिक तुम्हारे लिए चिन्तित हूँ।'

'ऐसा क्यों ?'

'मैं समझती हूँ कि यह गेरुआ भेष उतार कर तुम गृहस्थ बन जाओ। संसार को भ्रम में डालना ठीक नहीं।'

'तुम ठीक कहती हो जमुना। मैं अपने एकाकी जीवन से

ऊब उठा हूँ। मेरा कोई अपना नहीं, किन्तु अब कोई मार्ग नहीं दिखाई पड़ता।'

'इस दुनिया में कोई भी सुखी नहीं है। गृहस्थ बन्धन से छुटकारा पाकर अकेला रहना चाहता है और तुम उसी में उलझना चाहते हो। विधाता का कैसा विचित्र खेल है!'

नारायण ने गम्भीरता की आकृति बनाते हुए कहा—यदि मैं गृहस्थ बन जाऊँ तो जनता के व्यंग्य और उपहास का कारण बन जाऊँगा।

'उपहास और व्यंग्य से मुक्त होना कठिन है। एक दिन मेरे कानों में खटखटा कर कोई कह रहा था कि संन्यासी से संसर्ग रखना उचित नहीं। पड़ोस वाले सन्देह की दृष्टि रखते हैं।'

'क्या मेरे चरित्र पर लोगों को सन्देह होता है?'

'नारी के प्रति आकर्षण ही इसका सङ्केत करता है।'

'लेकिन तुम क्या समझती हो?'

'मैं भी इसी दुनिया में रह कर तुम्हारे शब्दों में व्यंग्य और उपहास से बचना चाहती हूँ।'

'अच्छा क्षमा करना।'—मुझे एक तिनके का सहारा मिला था, वह भी गया। अब फिर कभी मेरे कारण व्यंग्य सुनने का अवसर तुम्हें नहीं मिलेगा।'—उत्तेजित होकर नारायण ने कहा।

जमुना की आँखें सजल हो उठीं। वह मौन थी।

बाहर निकलते हुए नारायण ने देखा—अगणित ताराओं के साथ उसका शून्य मन आकाश की शून्यता में मिल जाना चाहता है।

धूप-छाँह

अगणित आकांक्षाओं की रेखाएँ कल्पना को कसौटी पर घिस-कर जब धुँधली हो जाती हैं, तब चञ्चल मन स्थिरता के आँचल में लुक-छिप कर रहना चाहता है।

वह उल्लास से भरो चाँदनी रातें अमावस्या की अँधेरी में परिणत होकर तारों से अपने जीवन की कटुता का विवरण देना चाहती हैं, किन्तु प्रकृति का शान्त वातावरण उन्हें मौन बना कर उन टूटे हुए तारों की ओर संकेत करता है, जो क्षण भर के लिए उज्ज्वलता उडेल कर अपना अस्तित्व मिटा जाते हैं।

वैभव और सुख की गोद में पला हुआ यौवन अपनी समस्त विभूति लुटा देने के बाद निराशा की हँसी हँस कर स्वप्न चित्रों को एकत्रित करने लगता है।

कालिन्दो मन ही मन रोती है, गाती है। वह उपवन के पुष्पों से गुनगुनाती हुई अपनी जीवन-गाथा सुनाती है।

ओस की बूँदें पखुँड़ियों से छलक कर उसके प्रति सहानु-भूति प्रकट करती हैं।

कल रात में रजनी गंधा खिली थी। कालिन्दी के हृदय में भावुकता का संचार हुआ। उसकी भावनाएँ जाग्रत हुईं।

दो युग पूर्व की घटनाएँ उसकी आँखों के सम्मुख आकर खड़ी हो गयीं।

'उस विशाल अट्टालिका के एक बड़े कमरे में झाड़-फानूस लगे हुए बेलजियम के शीशे, मुगल और राजपूत कलम के कला-

पूर्ण चित्रों से कमरा जगमगा रहा था। विलासिता की सभी आवश्यक सामग्री प्रस्तुत थी। कालिन्दी गुलदस्तों में रजनी गन्धा और अन्य पुष्पों के गुच्छों को सावधानी से सजा रही थी।

'जरा यहाँ आओ कलिन्दे'—कमलाकान्त पीने में व्यस्त थे।

'आती हूँ।'—कालिन्दी अपने कार्य में तन्मय थी।

कमलाकान्त उस बड़े शीशे में ध्यान से उसकी आकृति देख रहा था। आबरवें की फिरोजी साड़ी में कालिन्दी का छरहरा शरीर उसे मुग्ध किये हुए था।

कालिन्दी उसके समीप पहुँची। कमलाकान्त ने पूछा—तुम्हें यहाँ कोई कष्ट तो नहीं है ?

'सरकार के साथ भला कष्ट क्या हो सकता है ?'

कालिन्दी के उत्तर से कमलाकान्त को सन्तोष हुआ। उसने उसका हाथ पकड़ते हुए कहा–बैठो, मेरी फूलों को रानी !

समय उड़ते हुए पक्षी की भाँति चला गया।

प्रतिदिन का वासनामय जीवन खीझ उठा। आकर्षण शिथिल हुआ। आपस में अनबन चलने लगी।

एक दिन कमलाकान्त ने रोष में आकर कहा—अरे तू मालिन की बच्ची, इस योग्य नहीं थी कि यहाँ तुझे स्थान मिलता।

कालिन्दी ने भी उत्तेजित होकर कहा—तो मेरी प्रार्थना नहीं थी कि आप आश्रय दें। आप के भुलावे में आकर अपने बूढ़े पिता को भी छोड़ बैठी। सब कुछ त्याग देने पर यही पुरस्कार मिला।

उस दिन की बातें घुन की भाँति कालिन्दी के हृदय को

ाळने लगीं। उसने सोचा मैं जिस समुदाय को हूँ उसी में रहती यह व्यंग्य न सुनना पड़ता। तुच्छता के मस्तक पर स लगी।

अकस्मात एक दिन बिना कुछ लिये हुए उस विशाल भवन ' कालिन्दी खिसक गयी।

यौवन के मद में भरी कालिन्दी स्वतंत्रता के मार्ग पर वे ाक टोक चलने लगी। कोई कहनेवाला न था। जो चाहती रती।

परिवर्तन ही उसका लक्ष्य बन गया। कमलाकान्त के बाद ह किसी से सन्तुष्ट न हुई। यौवन पथभ्रष्ट होकर अपना सर्वस्व ो बैठा। कोई उसका साथी न बना।

दृश्य पलकों से ओझल हो गये।

इतने समय के बाद विस्तृत घटनाएँ जैसे सजीव होकर ोलने लगीं। कालिन्दी के मन में एक भीषण तूफान उठा। वह पने एकाकी जीवन से ऊब उठी थी। कमलाकान्त को एक बार फर देखने की उसकी लालसा प्रबल हो उठी।

कालिन्दी फूलों का व्यवसाय करती है। प्रातःकाल पुष्पों े भरी टोकरी लेकर वह गंगा तट पर आती। भक्त और गङ्गा नान करने वाले ही उसके ग्राहक बने। बहू जी और सेठानियों े अधिक पैसे उसे मनचले भक्तों से ही प्राप्त होते थे। इस लिए ाह दूर अकेली अपनी टोकरी बिछाये हुए बैठी रहती।

पैसों के साथ मुस्कराहट उसकी कुशलता थी। उसने फूलों े रूप का गठबन्धन जोड़ा था। दोपहर की गरमी में मुरझाये

हुए सुमनों से वह अपने यौवन के खंडहर में लौटती हुई प्रतिध्वनि की तुलना करती।

प्रति दिन उसे कितने ही रंग-विरंगे पशु और नर-नारियों का सामना करना पड़ता। दिवाकर जब अपनी यात्रा का आधा मार्ग पार कर जाते हैं तब अपनी खाली टोकरी लेकर वह तट पर जाती है। मिट्टी से दाँत साफ कर, दो डुबकियाँ लगा कर वह वापस लौटती है।

उसके जीवन में अब कोई नवीनता नहीं दिखलाई पड़ती। किन्तु स्थिर होकर दो रोटियों पर सन्तोष करना उसकी मनोवृत्ति के अनुकूल न था। उस दिन कालिन्दी को उस अट्टालिका के एक सेवक से सरकारजी के पतन का विवरण मिला था। प्रतिहिंसा की प्रसन्नता छलक पड़ी। कालिन्दी अपनी आँखों से एक बार फिर कमलाकान्त को देखना चाहती थी; किन्तु पता नहीं क्यों उसका साहस उस ओर जाने के लिए रोकता रहा। अन्त में उसने मन को दृढ़ता की डोर में बाँध कर उस विशाल भवन में प्रवेश किया।

बहुत देर के बाद कहीं सरकारजी को सूचना मिली थी।

कालिन्दी कमलाकान्त के सम्मुख खड़ी थी।

चित्रपट के रंगमंच पर सफल अभिनेत्री की भाँति कालिन्दी ने अपना वार्तालाप पूर्ण किया।

कमलकान्त गम्भीर होकर सुनता रहा। कालिन्दी ने अपने जीवन को छिन्न-भिन्न करने का अपराध उस पर लगाया था।

कमलाकान्त उत्तर देकर तर्क को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता था।

चलते समय जब कमलाकान्त ने इस भेंट का तात्पर्य पूछा तो कालिन्दी ने केवल एक बार देख लेने का अभिप्राय ही बतलाया। कमलाकान्त की आर्थिक स्थिति देखते हुए उसे साहस नहीं हुआ कि अपनी सहायता का प्रश्न वह उपस्थित करे।

× × ×

कमलाकान्त से मिलने के पश्चात् कालिन्दी का मन फूलों के व्यवसाय से उचट गया। उसने फिर दासी बन कर उसी स्थान पर अपना जीवन निर्वाह करने की इच्छा की। अपनी लालसा को छिपाये हुए वह अवसर ढूँढ रही थी।

उस दिन निर्जला एकादशी थी। कालिन्दी दिन भर व्यस्त थी। ग्राहकों की भीड़ उमड़ पड़ती थी।

दिन भर की थकी कालिन्दी अपने पैसों को जोड़ रही थी। उसने देखा कमलाकान्त उसे देखता हुआ आगे बढ़ गया। लौट कर फिर इधर से साक्षात् होगा ऐसा उसका विश्वास था। उसकी टोकरी खाली थी। कमलाकान्त को भेंट में देने के लिए कुछ भी न बचा था।

लौटते हुए कमलाकान्त ने पूछा—माला फूल दोगी?

'सब बेंच चुकी हूँ। अब कुछ भी शेष नहीं बचा है।'—कहते हुए कालिन्दी की आँखें चार हुईं।

कमलाकान्त ने फिर कहा—यहीं बैठती हो?

साहस बटोर कर कालिन्दी ने कहा—हाँ, पर यदि एक दासी का स्थान भी मिल जाय तो इस धन्धा से छुटकारा मिले।

कमलाकांत खड़ा था। उसने कहा—बहुत देर हो गयी। जीवन का क्रम जैसे चल रहा है, वही ठीक है।

कालिन्दी ने देखा बरसाती बादल उस पार धूप-छाँह की दौड़ लगा रहे हैं। कोई किसी का नहीं है। जीवन में यह धूप-छाँह का क्रम बनता बिगड़ता रहेगा।

रामजनी

देश में सुधार का युग था। समाज के प्रत्येक अंग में सुधारवाद की ध्वनि गूँज रही थी। ऐसे समय में विलासिता ऊँघती हुई अपने सुधार का स्वप्न देख रही थी। यौवन का उन्माद अपनी परिष्कृत आकृति बनाना चाहता था।

'छिप कर किसी वेश्या के गृह में घुसने से कहीं अच्छा है कि अपने को स्पष्ट कर दे।' समाज में कुछ प्रगतिशील विचार का चलन हुआ। स्कूल और कालेज से हताश कितने विद्यार्थी इस विचार-धारा के अग्रदूत बने। उनमें से अधिकांश डाक्टरों की सुई के शिकार हुए और कुछ विवाह के बंधन का प्रदर्शन करते हुए आदर्श का उदाहरण उपस्थित करने लगे।

गांधी टोपी का सहारा लेते हुए, खद्दर के आवरण में निरंजन प्रतिदिन नगर की हाट में वारांगनाओं का अन्वेषण करने

लगा। अर्थाभाव के कारण वाक्पटुता ही उसका धन बनी। 'माता जी' और 'बहन जी' के सम्बोधनों को सफलता मिली। हाट में निरंजन परिचित-सा प्रतीत होने लगा। वह जिस समय जहाँ चाहता चला जाता। रात पैसों के साथ सौंदर्य का फाटका खेलती, इसीलिए उसे दोपहर में अधिक सुविधा मिलती थी। वह खुलकर बातें कह-सुन सकता था।

वेश्या-जीवन के गूढ़ रहस्यों को समझने की उसकी प्रबल कामना थी। निरंजन अपने अगणित प्रश्नों को पहेली बनाकर रखता। वह इस पतित-जीवन का लेखा एकत्रित करना चाहता था। निरंजन ने 'वारांगना' नामक एक मासिक पत्र का प्रकाशन करना भी निश्चित किया था। उसकी जिज्ञासा जीवन में प्रथम रात्रि के प्रथम पुरुष की ओर सदैव ही आकर्षित रहती थी; किन्तु यथार्थ उत्तर न मिलने पर वह स्थिर न रहता। एक स्थान से दूसरे स्थान की परिक्रमा करता।

निरंजन की प्रतिष्ठा निरन्तर घटने लगी। प्रायः सब उसे मुफ्तखोर और खोपड़ी चाटनेवाला ही मन में समझतीं। 'लेना-देना कुछ नहीं व्यर्थ समय नष्ट करना' सबको पसन्द नहीं था। केवल फोटो और आत्मकथा प्रकाशित कर देने से ही उस समुदाय का सन्तोष न हो सकता था। निरंजन की योजना सफल नहीं हो रही थी। वह मन ही मन खीझ उठा था।

लाजवन्ती के प्रयत्न से एक धनी सज्जन द्वारा उसे कुछ आर्थिक सहायता भी मिली थी। निरञ्जन लाजवन्ती के व्यवहार पर मुग्ध था। उसे इस समाज की वही रानी प्रतीत होने लगी।

नगर में उसका नाम अपरिचित नहीं था। निरंजन को एक सहारा मिला।

संध्या हो गयी थी। निरञ्जन जब लाजवंती के यहाँ पहुँचा तो उसने देखा, बड़े शीशे के सामने बैठी वह शृंगार कर रही थी। उसके लम्बे केश उलझे हुए थे। काली आँखों की पुतलियों में आकर्षण भरा हुआ था। निरंजन को शीशे में उसकी आकृति बोलते हुए चित्र-सी प्रतीत हुई। वह समीप ही जाकर बैठ गया।

लाजवंती ने पूछा—'कहिये, क्या समाचार है?'

'सब ठीक है। पत्रिका अब छपने के लिए देना चाहता हूँ। आपकी 'आप बीती' भी पहले अङ्कों में प्रकाशित करूँगा।'

'मैं लिखना क्या जानूँ?'

'जो कुछ भी लिख सकें, लिखिये—उसे शुद्ध कर लिया जायगा।'

'मेरा लिखना कठिन है, आप जो चाहें लिख सकते हैं।'

'अच्छी बात है।'—कहते हुए निरंजन ने अपने जेब से फाउण्टेन पेन और नोट-बुक निकाली।

निरंजन ने गंभीर होकर पूछा—अपने पहले प्रेमी की कहानी आरम्भ कीजिये।'

बीती बातों का स्मरण करते हुए रोमांच हो उठता है। उन बातों को जानने से किसी को क्या लाभ होगा? नहीं जानती।'

'उससे समाज की आँखें खुल जायँगी।'

'समाज की आँखें हम लोगों के लिए कभी नहीं खुल सकतीं। जिस समाज में धोबिन और चमारिन भी झगड़ा करते समय

कह बैठती हैं कि क्या रण्डी-पतुरिया समझ लिया है? उस समाज में हमारा स्थान ही क्या है?'

'प्राचीन काल से लेकर आज तक वह स्थान वैसा ही बना हुआ है। किसी के कहने से क्या होता है?'

निरञ्जन उसकी कहानी सुनने के लिए उत्सुक था। उसने कहा—'यथार्थ वर्णन ही जीवन का कठोर सत्य है। उसमें संकोच करना व्यर्थ है।'

लाजवंती ने एक आह खींचते हुए कहा—१० वर्ष पहले की बात है, उस समय मेरी अवस्था १३ वर्ष की थी। गान, नृत्य और भाव-प्रदर्शन की मुझे शिक्षा मिल रही थी। अचानक एक धनी व्यापारी वज्र की तरह मेरे भाग्य पर टूट पड़ा। मुझे कुछ भी पता न था। वह बहुत देर तक मेरी माँ से बातें करता रहा। अंत में रात्रि के समय अपने कमरे में उसे देखकर मैं भयभीत हो उठी। उसने मुझे बहुत समझाया; लेकिन कमरे के बाहर आकर मैं रोने लगी। माँ ने डाँटते हुए संकेत किया कि उसने पाँच सौ रुपये दिये हैं। इस तरह मूर्खता करना उचित नहीं।

निरञ्जन स्तब्ध हो कर सुनता रहा।

लाजवंती ने फिर कहा—सुबह उठकर जब मैं माँ के सामने गयी तो उसकी आँखें नहीं उठती थीं। मैंने कहा—उसके मुँह से भयानक दुर्गन्ध आ रही थी, धत् माँ तू इतनी बड़ी चाण्डालिन है। यह मैं नहीं जानती थी।

उसने कहा—बेटी, रुपया ही तेरा पति, प्रेमी सब कुछ है। इसमें मेरा अपराध नहीं। यही हमारा लक्ष्य है।

लाजवंतो की आँखें सजल हो उठी थीं। उसने अपना शृंगा-रदान बंद करते हुए कहा—अब इससे अधिक कुछ नहीं कहना चाहती।

बगल के कमरे से कुछ मिठाई लाकर निरञ्जन के सामने रखते हुए उसने मुस्कुरा कर कहा—पड़ोसी के यहाँ को है।

निरंजन ने खाते हुए मुस्कुराने का कारण पूछा, पर लाज-वंती ने यह नहीं बतलाया कि प्रथम रात्रि के उत्सव के बैना में आयी हुई मिठाई कहानी की तरह स्पष्ट नहीं की जा सकती।

(२)

लाजवंती को स्पष्टवादिता से निरञ्जन प्रभावित हुआ। वह नियमित रूप से प्रति-दिन उसके यहाँ जाता। उसने अपना घरेलू व्यवहार बना लिया था। कभी लाजवंती को अवकाश न भी रहता तो वह घण्टों बैठा पुस्तक पढ़ता अथवा ताश को गड्डी लेकर अकेला चानस लगाता।

उस दिन पड़ोस को सहेलियों के साथ बैठ कर लाजवंती ताश खेल रही थी। निरञ्जन भी वहाँ पहुँचा। 'कोट पीस' से 'गन' का पत्ता बँटने लगा। खेल जम गया था, बीच में परिहास भी चलता रहा।

लाजवंती ने पानदान में से पान बनाकर निरञ्जन को दिया और खुद भी खाया।

निरंजन ने आश्चर्य से कहा—आपने इन लोगों को पान नहीं दिया।

'ये लोग मेरे पानदान का पान नहीं खाती हैं। बाजार से मँगाया है।'

'क्या कारण है ?'

'जातिभेद है।'

'क्या आप लोगों में भी अनेक जातियाँ हैं ?'

'हम लोगों की दो जातियाँ हैं। एक रामजनी और दूसरी गन्धर्व।'

निरंजन ने लाजवन्ती से पूछा—'आप क्या हैं ?'

'मैं रामजनी हूँ और यह लोग गन्धर्व।'

'आपस में खान-पान क्यों नहीं है ?'

'परम्परा और आडम्बर, इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।'

'गन्धर्व जाति का वर्णन तो प्राचीन पुस्तकों में मिलता है, लेकिन रामजनी का क्या अर्थ है ?'

'विशेष अर्थ तो मेरे मामा से पूछने पर मालूम होगा। इतना मैं जानती हूँ कि राम जाने कैसे जन्मी ?'

ताश का खेल शिथिल हो रहा था। दो-एक 'गन' के खेल में अभ्यस्त नहीं थीं। खेल बन्द हुआ।

निरञ्जन अपनी पत्रिका के लिये और प्रश्न करने लगा।

उसने पूछा—'इस जाति का इतिहास क्या है ?'

गंधर्व जातिवाली वेश्याओं में से एक बोली—हम लोग गंधर्वराज के वंश की हैं।

लाजवन्ती ने कहा—हमलोग भी उर्वशी और रम्भा की सन्तान हैं। हमारी अप्सरा जाति है।

इस विवाद से निरंजन को विदित हुआ कि दोनों जातियों में अपने को एक दूसरे से उच्च समझने का अभिमान है।

सहसा निरंजन के मुँह से निकल पड़ा—समाज से अलग होकर भी जिनके समाज की रचना हुई है वे भी जाति का गर्व करें!

(३)

'वारांगना' पत्रिका के लिए निरंजन ने निरंतर परिश्रम किया, किन्तु अधिकांश लोगों का व्यंग्य और लेखकों का स्पष्ट सहयोग न मिलने के कारण उसका उत्साह शिथिल पड़ गया। बदनाम होकर भी कार्य सिद्ध न हुआ। निरञ्जन के मन में पश्चात्ताप का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ उपार्जन न करने के प्रश्न पर घर में भी झगड़ा हुआ करता था।

लाजवन्ती के यहाँ जब निरंजन पहुँचा तो उसने देखा कि कोलाहल मचा हुआ है और लाजवन्ती बैठी रो रही है।

निरञ्जन उसके समीप जाकर बैठ गया। उसे देख कर लाजवन्ती के रोने की गति और भी बढ़ गयी।

'सभ्य और बहिष्कृत परिवार में द्वन्द्व का रूप एक ही समान होता है।' निरञ्जन यही सोच रहा था।

लाजवन्ती ने सिसकते हुए कहा—माँ, बहन और बेटी की कमाई खाकर भी ऐसे लोगों की आँखें चढ़ी रहती हैं। जब देखिये तब मिजाज ही बना रहता है।'

निरञ्जन को आभास मिला कि लाजवन्ती और उसके भाई में झगड़ा हुआ है। उसने कहा—इससे लाभ क्या, अब और बात बढ़ाना ठीक नहीं।

लाजवन्ती ने उत्तेजित होकर कहा—'यहाँ न जाने किस तरह से पैसा पैदा करना पड़ता है और उसे उड़ाकर लोग मजा करते हैं। कल रात में कई सौ रुपये गायब हो गये। उनके सिवाय कौन ले सकता है ?'

रात अधिक बीत चुकी थी। द्वार बन्द करने का समय हो गया था। निरञ्जन ने कहा—अब आज यहीं रह जाऊँगा। मेरे यहाँ भी इसी तरह का क्रम चल रहा है।

लाजवन्ती बगल के कमरे में चली गयी। निरञ्जन को एक तकिया और चादर प्राप्त हो गयी थी। उसने देखा कि लाजवन्ती अपनी पलंग पर जाकर सो गयी। दोनों कमरे को अलग करने वाला कपाट बन्द नहीं हुआ था।

रात्रि का सन्नाटा निरञ्जन के कान में कुछ गुनगुना गया। उसके श्वांस की गति तीव्र हुई। मस्तक में एक चक्र-सा चल रहा था। वह उठा और बगल के कमरे में गया। लम्प का प्रकाश बढ़ा कर उसने देखा लाजवन्ती नींद में सो रही है।

वह देखता रहा। लाजवन्ती का सम्पूर्ण सौन्दर्य उसे उन्मत्त बनाने में सहायक हो रहा था। सहसा उसका हाथ उसके मस्तक पर पड़ा। लाजवन्ती की आँखों ने उसकी आँखों की लाली देखते हुए कहा—यह क्या ?

निरञ्जन ने कुछ उत्तर न देकर अपना मस्तक उसके हृदय पर रख दिया।

लाजवन्ती चौंक कर उठी। उसने निरञ्जन को सावधान करते हुए कहा—अपना भाई तो धन नष्ट कर रहा है और आप धर्म के भाई, पता नहीं क्या चाहते हैं?

निरञ्जन एकटक उसकी ओर देखता रहा। उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल रहा था।

लाजवन्ती ने कहा—जाति पर गर्व करने वाले सुधारवादी सभ्य समाज की प्रवृत्ति का पतन ठीक नहीं।

निरञ्जन चुपचाप वहाँ से खिसक गया। द्वार खोलकर बाहर आते हुए उसने देखा, रात्रि की कालिमा धुलकर प्रभात की सफेदी आकाश पर अंकित हो चुकी थी।

दृष्टिकोण

रमिया की चाल चलन पर सन्देह होते हुए भी सुधुवा कुछ नहीं बोलता था। जब कोई कुछ कहता भी तो वह अनसुनी कर जाता। रमिया से संकेत द्वारा उसने कई बार समझाने का प्रयत्न किया; किन्तु तनक कर जब वह उत्तर देती तो वह चुप रह जाता। रमिया को वह रुष्ट करके नहीं रहना चाहता था।

रमिया उसकी सरलता का लाभ उठाती थी। वह दूसरों

के यहाँ बर्तन माँजती, लेकिन उसकी गृहस्थी का कार्य सुधुवा ही करता। वह घर-घर पानी भरता था और अपनी खेती पर बैल की तरह जुता रहता था।

सरसों और मटर के फूलों को बिखेर कर बसंती-बयार ने सुधुवा के हृदय में कुछ गुनगुना दिया। वह बिरहा गाता हुआ अपने खेत से लौट रहा था। उसने दूर से रमिया को पहचान लिया। रमिया किसी से बातें करती हुई झोपड़ी की ओर जा रही थी। सुधुवा को कौतूहल हुआ। वह जैसे उन दोनों की बातों को सुन लेना चाहता था। रहर के खेत के बीच में अपने को छिपाता हुआ वह समीप पहुँचा। अपने आवेग को रोक कर वह सब देखता रहा—सुनता रहा!

रमिया जब झोपड़ी की ओर चली गयी और उसका साथी लौट गया तो सुधुवा कुएँ के पास बैठ कर कुछ विचार करने लगा। राख के अन्दर छिपी हुई चिनगारी ने सुलग कर अपना रूप दिखलाया। वह उठा। झोपड़ी में आकर रमिया के प्रति उसने कुछ अपशब्दों का प्रयोग किया।

रमिया भी उत्तेजित हो उठी। सुधुवा भी अपने को न सम्हाल सका। उसका हाथ छूट पड़ा। दो चार घूँसे में ही रमिया मूर्छित हो गयी। उसकी नाक से खून निकला।

शान्त होने पर सुधुवा ने पानी छिड़क कर उसे चैतन्य किया। रमिया को सुधुवा की पशुता पर आश्चर्य था।

सुधुवा की सज्जनता की प्रतिमा का विसर्जन हो चुका था। रमिया का साहस खुल गया। अभी तक जिन बातों को वह गुप्त

रखना चाहती थी, उन्हें अब उसने स्पष्ट कर दिया। वह अधिक रात बीते अपनी झोपड़ी में वापस आती।

सुधुवा का जीवन पहाड़ हो गया। वह दिन भर परिश्रम कर के भी रात में चैन की नींद नहीं सो पाता था। वह चुटकियों से अपने मन को मसल कर रह जाता था। गाँव के ठाकुर बल-वान थे। रमिया के प्रश्न पर उसका कुछ वहाँ न चल सकता था। उसकी अपनी पत्नी गाँव के मनोरञ्जन की सामग्री बनी।

एक दिन रमिया को छेड़कर उसने पूछा—क्यों रे, क्या तेरी चाल न बदलेगी ?

उसने रूखे स्वर में कहा—कैसी चाल ?

'ज्यादा मत कहला जो पूछता हूँ, उसका उत्तर दे।'

'क्या चाहता है कि झोपड़ी में आना भी छोड़ दूँ।'

'मेरी बातों का यही मतलब है ?'

'और क्या है !'

'तब तू नहीं मानेगी ?'

'जैसा तू समझ।'

सुधुवा की विकराल आकृति देख कर रमिया झोपड़ी से बाहर चिल्लाती हुई भाग रही थी—'अरे, मार डालेगा। कोई जान बचा दे।'

सुधुवा उसके पीछे दौड़ रहा था। क्रोध के कारण वह अपने को सम्हाल न सका, एक जगह ठोकर खा कर गिर पड़ा। रमिया को अवसर मिला। वह ठाकुरों के पुरे में पहुँच कर सुर-क्षित हुई।

सुधुवा वहाँ पहुँच कर जब उसे पुकारने लगा तब दो-चार लाठियों से उसका उत्तर मिला।

'आज रमिया की जान लूँगा और अपनी दूँगा।' वह यही निश्चित कर चुका था, लेकिन पुरे के कुछ बूढ़ों ने समझाते हुए उसे उसकी झोपड़ी में पहुँचवा दिया।

(२)

गाँव के चौकीदार को उस घटना को सूचना मिली। दिन फटते ही वह सुधुवा के यहाँ पहुँचा। सुधुवा ने सब बातें दिल खोल कर कहीं। गाँव के ठाकुरों की धाँधली से चौकीदार भी अप्रसन्न रहता था। चौकीदार ने उसे बदलाका पूर्ण विश्वास दिलाते हुए थाना चलने के लिए उत्साहित किया।

सुधुवा किसी तरह चौकीदार के सहारे थाना गया। दारोगा ने सब सुन कर चौकीदार से संकेत किया। कुछ निश्चित हुआ। रपट लिखी गयी।

पुलिस ने अपना कौशल दिखलाया। जमानत हुई। मुक-दमा चला।

उस दिन से रमिया फिर झोपड़ी में नहीं आयी। सुधुवा का रोष दूना हो गया। इस दुर्घटना के कारण सुधुवा को अपनी चार बीघा भूमि भी रेहन रखनी पड़ी।

गवाह और सहानुभूति प्रकट करने वालों का संघटन होने लगा। गाँव भर में इस मुकदमे के कारण चहल-पहल मच गयी। सुधुवा ने दिल खोल कर गाँजे की पुड़िया खोली, किन्तु,

कचहरी में कुछ नशे के कारण और कुछ ठाकुरों के भय से सुधुवा का प्रत्यक्ष साथ न दे सके।

बहुत प्रयत्न करने पर भी सुधुवा का मुकदमा खारिज हो गया। वह निराश हो कर झोपड़ी में लौटा। ठाकुरों से बैर कर के अब वह गाँव में कैसे रहेगा? यही समस्या उसके सम्मुख थी।

गाँव के कुछ बूढ़ों ने उसे परामर्श दिया कि इस आपत्ति काल में कुछ समय के लिए गाँव छोड़ कर कहीं चले जाना ही सुधुवा को उचित है।

कई दिनों तक सुधुवा अपनी झोपड़ी से बाहर नहीं निकला। रमिया के इस तरह चले जाने का कारण वह अपनी दरिद्रता ही समझता था। यदि उसके पास धन होता तो रमिया दूसरों का जूठा क्यों उठाती? धन उपार्जन की उसको प्रवृत्ति जाग्रत हो उठी। आकाक्षाओं के आकाश में वह सुनहली किरणें देख रहा था। कलकत्ता की कमाई पर उसे भरोसा था।

गाँव छोड़ कर जिस दिन सुधुवा रेलगाड़ी पर चढ़ा, उस समय चेतना उसके कान में कह रही थी—रमिया भी गयी और जमीन भी रेहन हुई। दोनों ओर अन्धकार है।

(३)

जमींदारों का आतंक समाप्त हो चुका था। हरी-बेगारी नजर और चन्दे कानूनी फन्दे में फँसे हुए थे। भूमि का स्वामी रुष्ट और किसान प्रसन्न थे।

न्याय के सम्मुख अन्याय की उलझन उपस्थित की गयी।

व्यापार के शिकंजे में न्याय परास्त हो गया। कानून के पुतलों ने दफा १७१ (कानून माल) खोज निकाली। जमीदारों को तिनके का सहारा मिला।

सुधुवा को झोपड़ी छोड़े हुए तीन वर्ष समाप्त हो चुके थे; किन्तु रमिया और गाँव का कोई समाचार नहीं मिला। उसने जवाबी कार्ड तक भेजा। कोई उत्तर देनेवाला न था। सुधुवा सदैव रमिया का स्वप्न देखता। इतने दिनों नौकरी करके सुधुवा कुछ एकत्रित न कर सका। बड़े शहरों के खर्च से वह भयभोत हो उठा था। खाने-पीने में हो तलब निकल जाती थी। उसे विलासिता के केन्द्र इस महा-नगर से अपना गाँव ही प्यारा मालूम पड़ता था।

अकस्मात् उस दिन उसे अपनो भूमि के रेहनदार का पत्र मिला। उसका सारांश था—जमीदार ने भूमि बेदखल करा ली है। अब वह न उसकी रही न सुधुवा की ही रही।

शोघ्र ही वापस आने की प्रतिज्ञा पर कहीं सेठजी से पूरा वेतन प्राप्त हुआ। सुधुवा उड़ कर गाँव पहुँच जाना चाहता था। रमिया और अपनी भूमि को देखने के लिए वह चंचल हो उठा।

संध्या समय जब उसने गांव के मेड़ को पार किया तो बरगद के पेड़ के नीचे उसे एक छोटी-सी झोपड़ी दिखलाई पड़ी। उसके समय में यह झोपड़ो न थी। उसे एक नवीन चिह्न मालूम पड़ा। प्यास लगो थी, सुधुवा झोपड़ी के सामने खड़ा हो कर देखने लगा। अपने आप उसके पैर द्वार पर पहुँच गये। उसने देखा रमिया एक बच्चे को दूध पिला रही है।

सुधुवा ने आश्चर्य से कहा—रमिया !

उसने आँखें उठाकर देखा। बच्चे को खाट पर छोड़ कर वह सुधुवा की छाती में सिर लगाकर आँसुओं का हार पहिनाने लगी। सुधुवा का हृदय शीतल हुआ।

शान्त होने पर रमिया ने सुधुवा से कहा—उसे पूर्ण विश्वास था कि वह अवश्य ही आवेगा।

सुधुवा ने उत्सुकता से पूछा—जमीन कैसे बेदखल हुई।

रमिया ने उसे बतलाया कि कारिन्दा ने खेत बेदखल कराकर बन्दोबस्त अपने एक सम्बन्धी के हाथ कर दिया है।

किस दफा में और कैसे जमीन निकल गयी, यह तो सुधुवा को समझने की सामर्थ्य नहीं, लेकिन इतना वह अवश्य जानता है कि रमिया के कारण खेत रेहन रखना पड़ा।

उसने पूछा—वह बच्चा किसका है रे ?

रमिया ने कहा—तेरा।

सुधुवा खिल उठा। उसने अपने मन को समझाया—रमिया मिल गयी, भूमि हाथ से निकल गयी। कोई चिन्ता नहीं, किसी तरह दिन कट जायँगे। अपना पौरुष रहेगा तो गुजर-बसर हो ही जायगी।

सुधुवा को विश्वास था, वह पञ्चों और जात के लोगों को भोज-भात देकर मना लेगा। भूमि से अधिक उसे रमिया की आवश्यकता थी।

स्पष्टवादी

इस बीसवीं सदी में सभी वस्तुओं के परखने के विशेषज्ञ होते हैं। उनकी कसौटो पर अनुमान में प्राय: बहुत कम अन्तर पड़ता है, किन्तु मनुष्य को परखने वाले मनोवैज्ञानिक अपने अनुसन्धान में अभी पूर्ण सफल नहीं हो पाये हैं। कभी-कभी चरित्रों को सम्पूर्ण रेखाएँ बिखेर कर भी वे भ्रम में पड़ जाते हैं। सदानन्द के सम्बन्ध में भो कोई अपना मत स्थिर नहीं कर पाता था। वह एक कौतूहल था।

सदानन्द नग्न सत्य का समर्थक था। पाश्चात्य देशों के यथार्थवादी साहित्य का उस पर विशेष प्रभाव पड़ा था। जीवन में वास्तविकता की खोज जब वह ऐसे साहित्य में करता तब वह अपने को अधिक समीप पाता था।

मौसी के आश्रय में पलकर अनाथ सदानन्द बचपन से ही स्वतन्त्र प्रकृति के पथ पर अग्रसर हुआ था। जीवन में कटुता का आभास उसे अल्हड़पन में ही मिला था। भविष्य में अपने पैरों पर खड़े होकर चलने का संङ्केत कोई गुनगुना जाता था।

युवाकाल में परिस्थितियों की उलझन और निराशा की लुका-छिपी ने सदानन्द को स्थिरता की अटल अट्टालिका पर चढ़ने नहीं दिया। वह सदैव चञ्चल मन लेकर अनमना भटकता रहता।

सदानन्द के हृदय में कितनी टीस भरी है, जो एकान्त

रजनी में तारों से भरे आकाश में चिनगारियों की भाँति मन में सुलगती रहती है। उनके प्रकाश में एक दिव्य प्रतिमा की रूप-रेखा बनती-बिगड़ती है। सदानन्द को आकांक्षाओं का चाँद बादलों में छिपा हुआ है। वह सुखद कल्पनाओं में लीन हो जाता है।

परोसी थाली में अनेक प्रकार के स्वादिष्ट व्यञ्जन की टीका-टिप्पणी करने वाले पूँजीवाद के प्रति स्वाभाविक घृणा सदानन्द के मन में थी। चैतन्य होने पर उसे निर्धन जगत के जीव कीट-पतङ्गों की भाँति प्रतीत होते थे।

दिनभर परिश्रम करके सन्ध्या समय जब वह कार्यालय से घर लौटता था तब भी उसे शान्ति नहीं मिलती थी। मासिक वेतन मौसी को अर्पित कर देने पर कुछ पैसों के लिए उसे अपने मन को संकुचित कर लेना पड़ता था।

सदानन्द एक दैनिक समाचारपत्र के सम्पादकीय विभाग में समाचारों का अनुवादक था। नियमित समय पर कार्यालय न पहुँचने पर कभी-कभी उसे प्रधान का व्यंग्य सुनना पड़ता था। उधर घर में कभी ठीक समय पर भोजन न मिलने के कारण उसका कार्यक्रम व्यवस्थित न हो पाता था। वह अपने जीवन से खीझ उठता था।

उस दिन कार्यालय से अवकाश ले कर वह भूखे पेट ही प्रगतिशील-लेखक-संघ की बैठक में सम्मिलित हुआ था। वहाँ से लौट कर वह दफ्तर आया। पत्र मशीन पर था। सम्पादक-मण्डल कार्य समाप्त कर चुका था।

सदानन्द को देखते ही सम्पादक बोल उठे—कहिये संघ की बैठक में क्या हुआ ?

'अभी लेखकों का सहयोग विशेष रूप से नहीं मिल रहा है; फिर भी सङ्घटन हो रहा है।'

'पाश्चात्य देशों की भाँति हमारे देश में ऐसे साहित्य को कभी भी महत्त्व नहीं मिलेगा।'

'किन्तु समय बहुत आगे बढ़ रहा है। इस क्रान्ति के युग में जर्जर आदर्शवाद अपना रूप विकृत कर बैठा है। जीवन में वास्तविक चित्रण को ही श्रेय मिलेगा।'—सदानन्द ने रूखे स्वर में कहा।

'लेकिन मेरा मत तो यह है कि लेखक के लिए नग्न वर्णन करना उस टुटपुँजिये वणिक की तरह है जो थोड़ी-सी पूँजी से अपनी परचून की दूकान ग्राहकों के यहाँ लहने में फँसा कर खाली हाँडी, गगरी और टीन के कनस्टर को ही अपना समझता है।'

'आप चाहे जो समझें। देश में, पड़ोस में अथवा घर में अश्लील कृत्यों पर सदैव ही परदा डाल कर रखने अथवा मुँह फेर कर हट जाने से कहाँ तक सुधार हो सकेगा ? इसे आप ही समझ सकते हैं।'

'दुराचार, अश्लीलता और जीवन का विकृत रूप तो सृष्टि के आरम्भ से ही मानव अपने साथ ले कर आया है। उसका वर्णन कर—उस ओर सङ्केत कर—हम उसे रोक नहीं सकेंगे बल्कि उसे प्रोत्साहन ही मिलेगा।'

'आप का मत आप के काम आयेगा दूसरे उससे लाभ नहीं उठा सकेंगे।'—आवेश में सदानन्द बोल उठा।

प्रधान के प्रति असम्मान-सूचक प्रयोग सभी को बुरा लगा। मौन वातावरण ने नाटकीय दृश्य-परिवर्तन कर के यह तर्क समाप्त किया।

दूसरे दिन सदानन्द को एक पत्र मिला जिसमें लिखा थी कि कार्यालय में अब उसकी आवश्यकता नहीं है।

प्रधान से एक बार क्षमा-याचना करने पर स्थिति उसके अनुकूल हो सकती थी; किन्तु सदानन्द के स्वभाव की झुँझलाहट ने इसे पसन्द नहीं किया।

(२)

कार्यालय से अलग होने पर सदानन्द की दिनचर्य्या ही बदल गयी। देश-भक्ति के अपराध में दण्ड भुगत कर जेल के फाटक से मुक्त होते समय जो भावनाएँ उठती हैं, उन्हीं से कुछ मिलती-जुलती विचार-धाराएँ सदानन्द के मस्तिष्क में भी प्रवाहित हो रही थीं।

जीवन को संयमित और नियमित बना कर कठपुतलों की तरह मशीन की खटखट से मिल कर कार्य करने की प्रचलित प्रणाली का वह घोर विरोधी बन गया। पाठशाला और कार्यालय की घड़ियों के सङ्केत पर चलने वाले जीवन ने बन्धन से छुटकारा पाकर स्वच्छन्द पवन में जो खोल कर साँस ली।

घर से भोजन करने के उपरान्त चाय के अड्डों पर जा कर

गप्प लड़ाना और पुस्तकालयों में बैठ कर आधुनिक साहित्य का अध्ययन करना ही सदानन्द को प्रिय था।

नौकरी छोड़ने का रहस्य सदानन्द ने अपनी मौसी से नहीं खोला। 'अब वहाँ आदमी कम कर रहे हैं' आदि बातें समझा कर ही काम चल गया; किन्तु बेकारी में जब अपनी सन्तान पहाड़ की तरह भारी हो जाती है तो सदानन्द की बात ही क्या?

सदानन्द व्यंग्य, उपहास और टीका-टिप्पणियों का अभ्यस्त हो रहा था। उसे लोक-लज्जा के प्रति कोई ध्यान नहीं रहा।

उस दिन एक बङ्गाली सज्जन से चाय की दुकान पर फिर बहस छिड़ गयी। आरम्भ में गोर्की, नेट हेमसन, आस्कर वाइल्ड, डी० एच० लारेन्स और सोलोखाव की रचनाओं की विशेषताओं का वर्णन सदानन्द कर रहा था। नवयुवक सोवियट सोलोखाव के प्रति सदानन्द के हृदय में कितना सम्मान भरा है, यह बङ्गाली सज्जन को पसन्द नहीं आया। वह शरत् के समर्थक थे। उनका मत था—आदर्शवाद की छाया में यथार्थ वर्णन की सीमा निर्धारित करके शरत् ने एक नवीन पथ दिखलाया है।

सदानन्द ने कहा—हाँ, ठीक है; भारतीय लेखकों में शरत् यथार्थवादी चित्रण करने में सब से अधिक सफल हुए हैं। उन्होंने समय को पहले से पहचानने का प्रयत्न किया। यदि प्राचीन रूढ़ियों के राग में वह अपना भी स्वर मिलाते तो निश्चय ही समय ठुकरा कर उन्हें अलग कर देता।

बङ्गालियों में अपनी जातीयता का गर्व होता है। शरत् की प्रशंसा में वह गद्गद् होकर कुछ ऐसी बात कह गये जिससे

सदानन्द उत्तेजित हो उठा। उसने कहा—महाशय भले ही आपको बुरा लगे; किन्तु आरम्भ में कलाकार के व्यक्तित्व को कोई नहीं समझता। आपके शरत् के चरित्र के ही सम्बन्ध में कितनी बातें फैली थीं; किन्तु उन्होंने स्वयं सब अनुभव नहीं किया होता तो वे लिखते ही क्या ?

बङ्गाली महाशय कहने लगे—कलाकार के साहित्य से प्रयोजन है, उसके चरित्र को बातों से क्या तात्पर्य्य ?

'आप चरित्र और कला को अलग नहीं कर सकते। चरित्र का प्रभाव कला पर अवश्य पड़ता है।'

अन्त में तर्क इतना बढ़ गया कि बङ्गाली महाशय सदानन्द को मारने के लिए उठ पड़े; किन्तु बैठे हुए लोगों ने वातावरण किसी तरह शान्त किया।

(३)

कई मास बीत चुके।

सदानन्द ने चाय के अड्डों से पान और सिगरेट का व्यसन भी अपना लिया था।

शिक्षित समुदाय में अंग्रेजी शिष्टाचार के अनुसार बिना परिचय के किसी से बातचीत करना उचित नहीं समझा जाता; लेकिन सदानन्द दिल खोल कर सबसे बातें करता, क्षण भर में ही वह परिचय कर लेता और दो चार दिनों में इतनी घनिष्ठता बढ़ जाती कि वह अपनी स्पष्ट कहानी सुना कर उसे अपनी आवश्यकता और निरीहता की ओर आकर्षित कर लेता।

दिन पर दिन सदानन्द का खर्च बढ़ता ही गया। मौसी ने

उसका विवाह करना भी निश्चित कर लिया था; किन्तु आर्थिक प्रश्न सम्मुख था। सदानन्द नौकरी छोड़ कर अपनी साख खो चुका था।

मौसी के कहने पर वह यही उत्तर देता कि मैं इस तरह विवाह नहीं करना चाहता। जब समय आयेगा तो अपनी पसन्द की स्त्री चाहे अनाथालय से ही मिले, ले आऊँगा। मैं व्यर्थ के प्रपञ्च में अभी नहीं पड़ना चाहता।

मौसी कहती—चल, तेरी अनाथालय की बहू को कौन अपने घर में रखेगा?

उस दिन बीच सड़क पर लहनदारों ने सदानन्द को अपमानित किया। सभी का बाकी था। चाय, पान और सिगरेट के दुकानदार उसके वादे से घबड़ा उठे थे। वह बातें बना कर फ़ुरसत पा जाया करता था, लेकिन अब वे मानने को तैयार न थे।

सदानन्द चुपचाप घर में पड़ा रहता था। अब घर से बाहर निकलने का साहस नहीं होता था।

सन्ध्या हो चुकी थी। उसने सुना कोई द्वार खटखटा कर उसे पुकार रहा है। खिड़की में से देखते ही वह शिथिल हो गया। आज सब रहस्य खुल जायगा। वह हताश होकर मौन हो गया। कोई उपाय नहीं।

कुछ देर में सीढ़ियों से उतरते हुए उसने मौसी से कहा—मैं अभी आता हूँ। बाहर जो लोग आवाज दे रहे हैं, उन्हें कुछ उत्तर मत देना।

उस समुदाय में एक काबुली वाला भी था, जिसने अन्य सभी को सदानन्द का मकान बतलाया था। सबका प्रतिनिधि बन कर उसने तीखे स्वर में पुकारना आरम्भ किया; किन्तु उत्तर न मिलने पर वह द्वार पीटने लगा। ऐसा प्रतीत होता था कि द्वार टूट जायगा। पड़ोस के लोग एकत्र हो गये। लोगों के पूछने पर काबुली वाले ने बतलाया कि अपने विवाह के लिए दो सौ रुपये लेकर न तो सदानन्द सूद देता है और न असल ही। जब मिलता तब खूब खुल कर बातें करता। आज उसका सिर फोड़ दूँगा।

और लहनदारों का भी यही आरोप था कि आज कल करते-करते महीनों बीत गये। अब इस तरह नहीं चलेगा।

रात्रि हो रही थी। भीड़ में से एक परिचित ने घर में प्रवेश कर मौसी को सब रहस्य समझाया। बाहर आकर उसने कहा—अब वह इस घर में नहीं रहता। व्यर्थ यहाँ खड़े रहने से कोई लाभ नहीं होगा। वह जहाँ मिले उससे वसूल करो।

भीड़ के बीच में डण्डा पटकते हुए काबुली वाले ने कहा—जहाँ भी होगा मैं उसके विवाह का रुपया उसकी मिट्टी से वसूल कर लूँगा। धोखेबाज ! मैं नहीं जानता था कि मेरे साथ चाल करेगा।

अन्य लोगों ने समर्थन करते हुए कहा कि उसकी स्पष्ट बातों के ही सब शिकार हुए। किसी को भी ऐसी आशा नहीं थी।

लेकिन सदानन्द से कोई पूछे तो वह यही उत्तर देगा कि

परिस्थितियों के कारण ही ऐसा हुआ। उसकी हार्दिक इच्छा ऐसी नहीं थी।

रसिया

विधाता ने जिसे रूप दिया, धन दिया, घर-गृहस्थी दी, वह भी यदि दुखी रहा करे तो फिर संसार में सुख की परिभाषा क्या है ?

मदन अनमना रहता है। उसका मन नहीं लगता। मानव-जीवन में मन लगाने की सामग्री बड़ी मूल्यवान होती है। दिन भर परिश्रम करने वाला साधारण मजदूर उसे खरीद भी नहीं सकता। वह उसके सामर्थ्य के बाहर की बात है, किन्तु जिन्हें संसार में कोई काम नहीं है, जो केवल सुख की गोद में हँसने, बोलने और खेलने के लिए पैदा हुए हैं, उनके लिए मन न लगना एक बड़ी भारी बात है। जब मन ही नहीं लगता तो इस जीवन से क्या लाभ ? यही प्रश्न बार बार आकर उन्हें खटखटा जाता है।

सम्पन्न पुरुष के लिये मनचाही नारी का अभाव ही मन न लगने की सब से बड़ी पहेली बन जाती है ! घर में अपनी पत्नी के होते हुए भी मदन अन्य स्त्रियों के प्रति तृषित नयनों से देखता है। उसकी प्यासी आकांक्षा अतृप्त ही रहती है।

अपने नगर में मनुष्य को लोकलज्जा का अधिक ध्यान रहता

है, अतएव वर्ष में एक दो बार देश के प्रमुख नगरों का भ्रमण कर मदन स्वतंत्रतापूर्वक वेश्याओं का निरीक्षण करता, किन्तु किसी को अपना बना लेने में जितना सुख है, वह इस तरह दर-दर फिर कर कभी नहीं प्राप्त हो सकता ! अनुभव ने भली भाँति उसे यह समझा दिया था। यह सब समझते हुए भी वह विवश था। परिवार में बड़ों के भय और पत्नी के बन्धन ने सब ओर से उसका मार्ग बन्द कर दिया था। अब वह इसके अतिरिक्त कर ही क्या सकता था ?

बी० ए० में दो बार फेल होने पर काशी जाकर अध्ययन करने का उसे अवसर मिला। पिता की स्वीकृति मिलने पर कुछ काल के लिए मुक्त छन्द की गति की भाँति चलने के लिए वह स्वच्छन्द हो गया। तीर्थ स्थानों की कलुषित कथाएँ वह सुन चुका था। इस लिए प्रातः-काल और संन्ध्या समय घाट और मन्दिरों की यात्रा कर उसके जीवन में एक नवीन स्फूर्ति का संचार हुआ। यही कारण था कि कालेज के छात्रावास में मदन को रहना पसन्द नहीं था। उसने नगर के मध्य में किराये पर एक मकान लिया था। पड़ोस भी गुलजार था। थोड़े ही समय में वह सब का परिचित बन गया। उसकी बैठक में काफी चहल-पहल रहती। वहाँ शतरंज के खिलाड़ियों की चालें निर्जीव मोहरों को चलाने में व्यस्त रहतीं।

मदन का मन उस दिन खेल में नहीं लग रहा था। संध्या हो रही थी। किसी तरह वह बाजी समाप्त करना चाहता था। वह घाट पर जाने के लिए उतावला हो रहा था। कल उसने

जो एक सजीव प्रतिमा देखी थी उसके सम्बन्ध में उसकी जिज्ञासा प्रबल हो उठी। अपनी ओर उसे कई बार देखने के प्रश्न ने कौतूहल उत्पन्न कर दिया था।

अन्त में अधूरी बाजी छोड़ कर ही वह उठ पड़ा।

(२)

वसन्त का पवन उल्लास से भरा हुआ अपनी चंचल गति में बह रहा था।

गंगा तट पर कथा, कीर्त्तन और व्याख्यान का समारोह चल रहा था। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लोग उनमें सम्मिलित हो रहे थे।

दूसरी ओर नौका-बिहार का दृश्य था।

मदन इधर-उधर भटक रहा था। उसने देखा एक स्थान पर पंजाबी ज्योतिषी बैठे हुए हैं, जो रमल फेंक कर प्रश्नों का उत्तर देते हैं और भूत, भविष्य और वर्त्तमान हस्तरेखा द्वारा भी बतलाते हैं। मदन को इस पर विश्वास नहीं था, फिर भी मनोरंजन के लिए वह वहाँ खड़ा होकर देखने लगा।

ज्योतिषी ने उसे देख कर कहा—बच्चा तू बड़ा भाग्यवान है। तेरे मस्तक की रेखाएँ बड़ी उज्ज्वल हैं। कुछ पूछ तो बतलाऊँ ?

मदन ने हाथ सामने करते हुए कहा—बतलाइये, जो कुछ बतला सकते हों ?

ज्योतिषी ने हाथ की रेखाओं को देख कर कहा—आयु

७० वर्ष की है। माता, पिता जीवित हैं। दो सन्तान हैं, तीन और होंगी। पत्नी से बनती नहीं। धन का कभी अभाव न होगा। जिस स्त्री को प्राप्त करना चाहता है, वह मिलती नहीं।

मदन ने उत्सुकता से पूछा—"लेकिन महाराज, क्या जीवन में स्त्री-सुख से वंचित रहूँगा ?

ज्योतिषी ने कहा—विवाह तो एक ही लिखा है। इस सम्बन्ध में प्रयत्न करने पर असफलता ही मिलेगी।

दक्षिणा देकर मदन ने सोचा, ज्योतिषी ने बहुत कुछ बातें ठीक बतलाई हैं।

सहसा उसकी आँखें एक ओर स्थिर हो गईं ? यह वही स्त्री है, जिसे वह खोज रहा था। उसकी सादगी पर वह मुग्ध था। शरीर पर एक भी आभूषण नहीं था। हाथ में एक झोला लिए और चप्पल पहने वह स्वतंत्रतापूर्वक अकेली आ रही थी।

मदन उसकी ओर एकटक देखता रहा। उसके इस तरह बार-बार देखने की अशिष्टता ने ही उसे भी उसकी ओर देखने के लिए बाध्य किया। नारी, पुरुष की आँखों को खूब पहचानती है। मदन की भावनाओं की कालिमा उसकी आँखों से न छिप सकी। उसने देखा, मदन छाया की भांति बराबर उसके साथ चल रहा है।

झुँझला कर वह घाट के एक तख्ते पर बैठ गई। मदन भी समीप में ही खड़ा था। बहुत देर तक उस पार की धुँधली हरियाली देखने में वह उलझी हुई थी, किन्तु मदन भी वहाँ से हटा नहीं।

अस्ताचल से अपनी बिखरी लालिमा समेट कर जब दिनकर खिसक रहे थे, तब रमणी भी चुपचाप वहाँ से उठ कर जाने लगी। सीढ़ियाँ चढ़ कर गली की मोड़ पर जब वह पहुँची तो उसने देखा, मदन ने अभी तक उसका साथ नहीं छोड़ा था। वह एकान्त स्थान में रुक गई। मदन सामने आ गया। उसने पूछा आप क्या चाहते हैं जो इस तरह मेरे साथ लगे हुए हैं।

'आप की दया।'

'मेरी दया से भला आपको क्या लाभ होगा।'

'मेरा जीवन सार्थक हो जायगा, सुन्दरी।'

'सचमुच ?'—कहते हुए रमणी ने मुस्करा दिया।

मदन खिल उठा।

'अच्छा, आज चले जाइये। कल फिर उसी स्थान पर भेंट होगी। तब मैं अपने साथ ले चलूँगी।'—कह कर रमणी चली गई।

(३)

रात के सन्नाटे में मदन अपनी पलंग पर पड़ा हुआ कितने ही प्रश्नों में उलझा हुआ था। उस रमणी की उदारता पर उसे आश्चर्य था। उसकी कुलीनता में उसे शंका उत्पन्न हो रही थी। कारण, बाजार में बैठने वाली पालतू पक्षियों के अतिरिक्त इतनी कुशलता से कौन बात कर सकता है ?

एक सभ्य परिवार में उत्पन्न स्त्री को इतना साहस कैसे हो सकता है ?

अपने तर्कों से ऊब कर मदन ने मन ही मन सन्तोष की साँस ली। उसने निश्चय किया कि वह चाहे जैसी भी हो, किन्तु जीवन में सरसता का संचार करने में वह पर्याप्त है।

निद्रा ने थपकियाँ देकर सुलाया। सबेरे उठ कर मदन ने अपने एक अन्तरंग मित्र से सब कहानी कह सुनाई। मित्र को भी उसे देखने की उत्सुकता हुई। मदन यह नहीं चाहता था कि एक और साथी लेकर वह अपनी स्वतंत्रता में बाधा उपस्थित करे।

निश्चित समय पर मदन वहाँ पहुँचा। बहुत खोजने पर भी उस रमणी का दर्शन नहीं हुआ, किन्तु मार्ग में मित्र से साक्षात होने पर मदन उससे बातें करता हुआ आगे बढ़ा।

वह निराश होकर घर लौटने का विचार कर रहा था, उसी समय उसने देखा, पीपल के वृक्ष के नीचे वह खड़ी थी।

उसे देख कर मदन अपने साथी से अलग होकर साथ चलने का संकेत कर वहाँ पहुँचा।

'मुझे कुछ विलम्ब हो गया क्या ?'

'मैं निराश हो रहा था।'

'नहीं जब वचन दे चुकी थी तो, तो ऐसा नहीं हो सकता था।'

'मेरा भाग्य है।'—कहते हुए मदन बड़ी सरलता से उसकी ओर देख रहा था।

उसने अपने साथ चलने का संकेत किया। अनेक गलियों को पार करने के बाद रमणी ने एक मकान में प्रवेश करते हुए कहा—'चले आइये, आप बड़े साहसी मालूम पड़ते हैं ?'

गर्व से मस्तक ऊँचा करते हुए मदन ने देखा उसका साथी दूर पर खड़ा हो गया था। मदन ने घर में प्रवेश किया।

रमणी ने एक बार जोर से पुकारा।

मदन भयभीत होकर काँपने लगा। एक बलवान पुरुष हाथ में डन्डा लिए हुए उतर पड़ा। बिना कुछ पूछे हुए ही सटासट प्रहार होने लगा।

असहाय मदन बड़े कातर स्वर में क्षमा याचना करने लगा।

रमणी की आकृति विलीन हो ही गई थी।

एक गहरी ठोकर खा कर मदन द्वार के बाहर आया। उसने सुना—'ओ रसिया! तेरी रसिकता का यही उपहार है।'

दूसरे दिन पड़ोस में रसिया की आप बीती किसी से छिपी नहीं रही।

विसर्जन

मानवता के उत्कर्ष का युग था। विज्ञान और कला के कितने ही आविष्कारों ने संसार का रूप परिवर्त्तित कर डाला था। पूँजीवादी अपना हाथ फैलाये हुए समस्त विश्व की विभूतियाँ केवल अपने लिए ही सुरक्षित रखना चाहता था और साम्यवादी राष्ट्र कहता था कि हम सब कुछ लेकर बराबर का बंटवारा करेंगे। संसार के इतिहास में उपसंहार वाला अंश

जोड़ने के लिए मानव-समाज व्यग्र हो उठा। युद्ध के काले बादल आकाश में छा गये।

कप्तान को आज्ञा मिली थी। उसका जहाज सैनिक और युद्ध सामग्री से पूर्ण हो कर उसकी प्रतीक्षा में था। उसने घड़ी देखते हुए अपनी पत्नी से कहा—अब समय हो रहा है।

उसकी पत्नी ने कहा—मैं भी साथ चलूंगी।

यह कैसे हो सकता है ?—कप्तान ने कहा।

क्यों ?—उसने पूछा।

'मरण का प्रश्न है।'

'कोई चिन्ता नहीं मृत्यु का सर्वत्र आतंक है। कहीं भी उससे छुटकारा नहीं मिल सकता। वायुयानों की बमवर्षा के कारण नगर ध्वस्त हो चुका है, फिर क्या यहाँ अकेला छोड़ कर मुझे जीवन दे सकोगे ?'

कप्तान चिन्तित हुआ। उसने निश्चित करते हुए कहा—अच्छा चलो।

उसकी पत्नी इस आपत्तिकाल में भी खिल उठी। दोनों साथ ही जहाज़ पर चढ़े।

ठीक समय पर जहाज़ छूटा।

(२)

असंख्य जलराशि आलोडित हो रहा था। तीन दिनों से जहाज समुद्र के विशाल भाल पर चल रहा था। प्रकाश-गृह से पथ-प्रदर्शन का कहीं संकेत नहीं मिल रहा था। सैनिक और नाविक सशंक हो कर केवल आज्ञाओं का पालन कर रहे थे।

सहसा एक भीषण ध्वनि हुई। कप्तान ने संकट को सूचना दी। किसी पनडुब्बे के आक्रमण से जहाज़ के विसर्जन का समय समीप आ गया था। सब लोग भयभीत हो उठे।

कप्तान ने छोटी नौकाओं पर सैनिकों को चले जाने की आज्ञा दी। सब व्यवस्था हो चुकी थी। जीवन-रक्षा के लिए रखी हुई नौकाएं समुद्र में बिखर गईं। साहसी सैनिक लाइफ-बेल्ट के सहारे समुद्र में कूद पड़े।

कप्तान ने अपनी पत्नी से कहा—शीघ्रता करो, तुम भी जाओ।

उसने बड़ी दृढ़ता से कहा—मैं नहीं जाऊँगी।

यह ठीक नहीं।—कहते हुए कप्तान प्रबन्ध में लग गया। कप्तान ने देखा कि बहुत प्रयत्न करने पर भी कुछ लोगों को जहाज़ के साथ ही समाधि लेनी पड़ेगी।

सब कार्य समाप्त करने के बाद कप्तान ने अपने केबिन से एक लाइफ बेल्ट ला कर अपनी पत्नी को देते हुए कहा—अब भी समय है, इसके सहारे समुद्र में कूद जाओ। दो घन्टे में सहायता मिलने की आशा है।

वह मौन हो कर उसकी ओर देख रही थी। उसी समय एक आदमी दौड़ा हुआ उसके समीप आया और उसके हाथ से लाइफ बेल्ट छीन कर कूद पड़ा। कप्तान आश्चर्य से देखने लगा। वह चाहता तो उसी समय उसे गोलियों का शिकार बना डालता; किन्तु न जाने क्या सोच कर वह मौन हो कर मनुष्य की पशुता पूर्ण आचरण की व्याख्या कर रहा था।

कप्तान अपनी पत्नी के साथ जहाज के ऊपरी भाग पर खड़ा था। उसने भगवान की वन्दना की। उसकी पत्नी के दोनों हाथ उसके कंधे में जकड़े हुए थे। उसी समय समुद्र की एक लहर ने आकर उनका स्वागत किया और दूसरी लहर ने गर्जना करते हुए कहा—किसी देश अथवा जाति के ऐसे वीर धन्य हैं !

गुंडा

नगर उसके अत्याचार के आतंक से भयभीत हो उठा था। मार्ग चलते जो सामने उपयुक्त पात्र दिखाई पड़ता, वही उसकी आवश्यकता का आखेट बन जाता। उसका लम्बा छरहरा बदन केवल विकटता का व्यक्तित्व प्रकट करता था। उसके कार्यों से परिचित लोग दूर हट कर आपस में उसकी विशेषताओं का वर्णन करते। नगर में यह विख्यात था कि कितनी हत्याओं और अपराधों के पश्चात् भी कोई उसका कुछ भी न कर सका।

वह पुलिस के मस्तक पर कलंक का टीका बना था। अधिकारियों का आदेश था कि किसी तरह भी वह न्यायालय के कटघरे में उपस्थित किया जाय।

पुलिस के पूर्ण प्रयत्न को सफलता मिली। उस दिन जब कोई उसकी जमानत करने वाला नही मिला तब उसका गुन्डा मन चंचल हो उठा। ठीक उसी समय काली चादर ओढ़ कर

कोई स्त्री आई और उसने रुपयों की गठरी नगद जमानत के रूप में रक्खी। अभियुक्त से उसकी आँखें मिलीं। वह खिल उठा। सब आश्चर्य-चकित हो गये।

आजन्म कारावास का दण्ड पाकर वह प्रायः जेल के नियमों में बाधा डालता था। जेल में पर्याप्त पूजा होने पर भी उसकी अकड़ न गई। जेल जीवन का सब से कष्ट मय कारण उसके लिए मादक वस्तुओं का अभाव था। एक दिन पता नहीं कैसे वह जेल की दीवारों को पार कर वेश्याओं की हाट में पहुँचा। उसने निश्चित स्थान पर जा कर देखा द्वार बन्द था। पान वाले से पूछने पर उसे ज्ञात हुआ कि वह अपने किसी प्रेमी को प्रसन्नता के लिए द्वार बन्द रखती है।

उसका मस्तक लाल हो उठा। उसकी आँखें भयानकता की सूचना देने लगीं। वह कूद कर आगे बढ़ा। उसने द्वार अपने पैरों से तोड़ डाला। प्रेमी-प्रेमिका को एक साथ देख कर उसका हाथ नैपाली भुजाली पर पड़ा। उसने कुछ पूछना उचित न समझा। उसके एक वार में ही कार्य समाप्त हो गया। वहाँ से निकल कर एक क्षण में ही वह अदृश्य हो गया।

उस दिन से फिर कभी वह बनारस की गलियों में दिखलाई नहीं पड़ा, लेकिन उसकी कथा आज तक प्रचलित है।

उल्का

परीक्षा समाप्त कर, विद्यार्थी जिस तरह परिणाम की तिथि की प्रतीक्षा करते हैं, ठीक उसी तरह विलास को भी अपनी सन्तान उत्पत्ति के समय उत्सुकता रहती थी।

विधाता का कुछ ऐसा अभिशाप था कि सदैव कन्या उत्पन्न होने के कारण उसे हताश होना पड़ता था। यह एक ऐसा प्रश्न था जो अन्तस्थल में कंटीले तारों से घिरा रहता। पड़ोस, समाज और मित्रों में इस प्रश्न पर लज्जित होकर विलास की आँखें झुकी रह जातीं। वह अपने भाग्य को कोसता कि एक नहीं, पाँच-पाँच कन्याओं के विवाह की जटिल समस्या उसके जीवन के सम्मुख है।

दिन भर घोर परिश्रम करने पर भी विलास का वेतन इतना अल्प था कि उससे उसका निर्वाह नहीं हो पाता था; किन्तु पत्नी की गृह-प्रबन्ध की कुशलता ने उसे विचलित नहीं होने दिया। वह एक कोठी में नौकरी करता था। पूंजीपति सेठ की कृपणता के कारण उसे आन्तरिक घृणा थी, फिर भी उन्हीं के हाथों उसकी जीविका थी।

कोठी से छुट्टी पाकर जब वह घर आता तब भी कार्य से उसका छुटकारा नहीं होता था।

रात्रि समय सब झंझटों से निवृत्त होकर विलास जब खाट पर लेटता तो उल्का की मधुर ध्वनि उसके कानों में गूंजती रहती—

आजा रि निंदिया आजारी।
बेला की निंदिया आजा री॥

उल्का बारह वर्ष की हो चुकी थी। विलास की सब से बड़ी कन्या होने के कारण अन्य कन्याओं के खिलाने-पिलाने और सुलाने का भार उसी पर था।

उल्का कभी खाली न बैठती थी। माँ जब भोजन पकाने बैठती तो ऊपर का सभी काम उल्का ही करती। अपनी सब से छोटी बहन बेला को झूले पर सुला कर वह किरोशिया की बेल बुनती। इतनी छोटी अवस्था में उल्का कितना अधिक कार्य करती है? यह देखकर उसकी माँ मन-ही-मन प्रसन्न होती थी। उसे विश्वास था कि जिस परिवार में वह जायगी, वह उल्का से अवश्य सन्तुष्ट होगा।

अंगूर की लता की भाँति उल्का बढ़ रही थी। उसके विवाह के सम्बन्ध में कई बार उसकी माँ ने अपने पति का ध्यान आकर्षित किया; किन्तु विलास सदैव ही उसका विरोध करता। वह बाल-विवाह के पक्ष में न था। समय आने पर सब कुछ अपने आप हो जाता है, ऐसा उसका विश्वास था।

उल्का की माँ का विचार भिन्न था, वह प्राचीन परिपाटी का स्वर भरते हुए तर्क करती।

रात्रि समय अपनी सन्तानों के बीच में लेटी हुई उल्का की माँ ने विलास से पूछा—एक बात कहूँ बिगड़ोगे तो नहीं?

'वही उल्का में विवाह के सम्बन्ध में न?'

'हाँ।'

'क्या कोई नई बात कहना चाहती हो ?'

'मैंने विवाह निश्चित कर लिया है ।'

'कहाँ ?'

'मेरी मौसी आई थीं । वह लड़के का फोटो भी दे गई हैं । लड़का एन्ट्रेंस पास है । बाप रेलवे में नौकर है । घर अच्छा है ।'

'लेकिन अभी इतनी जल्दी क्या है ? कानून के विरुद्ध ऐसा करने पर जेल जाना पड़ता है । अब पहले की बातें बदल चुकी हैं ।'

'कानून क्या धर्म को छुड़ा देगा ? यह सब व्यर्थ की बातें हैं । कहीं कुछ नहीं होगा । मासिक धर्म होने के बाद कन्या-दान का कोई महत्त्व नहीं रहता ।'

'रुपयों का प्रबन्ध कैसे होगा ?'

'वह सब हो जायगा । गहना, बर्त्तन और कपड़े मैं एकत्रित कर चुकी हूँ । लड़के का बाप दहेज वगैरह कुछ नहीं माँगता । केवल विवाह में जो कुछ खर्च पड़े उसे तुम सम्हाल लेना ।'

'अच्छा देखा जायगा ।'

(२)

एक दिन शुभ मुहूर्त्त में उल्का का विवाह हो गया । कन्यादान के समय विलास के हृदय में बड़ी ग्लानि उत्पन्न हुई । उसकी आँखों से अश्रुधारा बह चली । लोगों ने समझा कन्या के विदा के कारण ही ऐसा होना स्वाभाविक है; किन्तु गुलाब के फूल जैसी अपनी कन्या के सुयोग्य वर न मिलना ही

इसका प्रमुख कारण था। उसे सब से अधिक क्रोध अपनी पत्नी पर था, जिसकी जल्दीबाजी के कारण ही यह सब हुआ था; लेकिन अब क्या ? जो होना था सो हो चुका था।

विवाह के पश्चात सहेलियों के व्यंग्य पर उल्का का ध्यान गया। उसने भर आँखें अपने पति को देखा भी नहीं था। घूंघट में से जो झलक उसने देखी थी, उसी के अनुसार सहेलियों की टीका-टिप्पणियों पर उसे विश्वास करना पड़ा। किसी ने कहा—उसके मोटे-मोटे होंठ हैं, उसके मुँह पर चेचक के दाग़ हैं। वह काला कुरूप उल्का के योग्य नहीं है।

अन्त में अपनी सिसकियों के साथ उल्का बिदा हुई।

दिन पर दिन बीतने लगे।

उल्का अपनी गृहस्थी का कार्य बड़ी धीरता से करती। वह सास-ससुर को कुछ कहने-सुनने का अवसर न देती थी। फिर भी उसके मन में शान्ति नहीं थी। देखने में उसका सम्पन्न परिवार था; किन्तु प्रत्येक चीजें ताले में बन्द रहतीं और आवश्यकता से कम खर्च करने का आदेश मिलता था। उसे यह कंजूसी खलती थी। इस पर भी सास की कर्कश वाणी से जब कभी वह अपना तिरस्कार सुनती तो उसका हृदय व्यथित हो उठता था। लेकिन यह सब व्यर्थ था। विधाता की रचना को कौन मिटा सकता है ?

सब कामों से अवकाश पाकर सन्ध्या समय उल्का घर के आंगन में बैठी इंजन के धुंएं को आकाश में बिखरता हुआ देखा करती। उस निर्जन स्थान में जैसे रेलगाड़ी की खड़-खड़ाहट

और इंजन के धक-धक के अतिरिक्त कुछ भी न सुनाई पड़ता था। किसी से हँसने बोलने की सुविधा न थी। पति देव की नवीन नौकरी थी, वह अपनी 'ड्यूटी' पर चले जाते और अर्ध रात्रि के समय श्वशुर शराब पीकर नशे में पदार्पण करते। उस समय उसे खिलाना और उसकी आज्ञा का पालन करना ही उल्का का लक्ष्य था।

निश्चित समय पर गाड़ी छूटने की भाँति रेलवे के कर्म-चारियों का जीवन भी वैसा ही बन जाता है। उसमें कोई नवीनता नहीं रहती। नियमित कार्यक्रम के नीरस वातावरण ने जैसे उल्का को भी शुष्क बना दिया था। उसके अधरों से किसी ने हंसी छीन ली थी। वह मन-ही-मन पता नहीं क्या विचार किया करती थी। कौन जान सकता है कि बनारसी साड़ी और आभूषणों से लदी हुई उल्का सम्पन्न गृह में जाकर भी इतनी वेदना मन में क्यों छिपाये हुए है?

कालचक्र—अचानक एक दिन उसकी सास बीमार पड़ी और दस-पन्द्रह दिनों के ज्वर के साथ वह चल बसी। उसका कलंक भी उल्का के मस्तक पर लगा।

नशे के झोंक में उसके श्वशुर ने तीखे स्वर में कहा—बहू जब से तू घर में आई है, सर्वनाश ही हुआ है।

मौन हो कर उल्का सुनती रही। वह विवश थी।

मानसिक उद्विग्नता के कारण उसका शरीर दिन-पर-दिन क्षीण होता गया। प्रतिदिन के कार्य से विमुख होना उसके लिए असम्भव था। किसी भी अवस्था में वह सब कार्य समाप्त

करती। असमर्थ होकर जब वह पलंग पर पड़ी तो इसे काम न करने का बहाना समझा गया।

महीनों बीत गये। उल्का की कोई चिकित्सा न हुई। एक वृद्ध पंडित जी ने बतलाया कि इसे कुछ 'ऊपरी फेर' है। अतएव उल्का के स्वसुर निश्चिन्त हो गये। फिर उस ओर ध्यान देना व्यर्थ था।

मानसिक संताप और ज्वर की ज्वाला ने उल्का को विक्षिप्त बना दिया। वह कभी घन्टों बक-बक करती, रोती, चिल्लाती, हँसती।

यंत्र-मंत्र का अनेक प्रयोग हुआ; किन्तु उससे कुछ लाभ नहीं हुआ।

एक दिन चेतनावस्था में उल्का ने अपने श्वशुर से कहा—बाबू जी एक बार मुझे मेरी मां के यहाँ पहुँचा दीजिये तो बड़ा अच्छा हो।

उसने रूखे भाव से उत्तर दिया—उन लोगों को तो तेरी कोई चिन्ता ही नहीं है और तू उन्हीं के यहाँ जाना चाहती है। यदि उन्हें तेरी ममता होती तो खुद ही आकर ले जाते। अब ऐसी अवस्था में वहाँ पहुँचाने से भी वे लोग समझेंगे कि बोझ यहां लाकर पटक गये हैं।

उल्का चुप हो गई।

वह आँखें बन्द कर अपनी माँ, बहिनों और पिता का स्वप्न देखा करती थी। उसका मन अधीर हो उठता था।

उस दिन उल्का प्रसन्न थी। बहुत रात तक जागती रही।

उसके कमरे से एक मधुर ध्वनि आ रही थी। वह अपने उसी चिर परिचित स्वर में गुनगुना रही थी—

आ जारि निंदिया आ जारी।
.........की निंदिया आजारी॥

घरवालों ने समझा वह विक्षिप्त-अवस्था में है। लेकिन उस रात में पता नहीं किस अज्ञात लोक से वह निद्रा को आमंत्रण दे रही थी? उसकी हृदय गति बन्द हो गई और सदैव के लिए वह चिर निद्रा में लीन हो गई।

दूसरे दिन तार द्वारा विलास को यह समाचार मिला। वह अधीर हो कर रोने लगा। उसका साहसी मन विचलित होकर बिलखने लगा। रात्रि के खुले आकाश में वह अपनी दृष्टि गड़ाये मौन बैठा था। अगणित ताराओं की पंक्तियों में से किसी टूटे हुए तारे के साथ वह उल्का की खोज कर रहा था।

मैं

[मेरी यह आत्मकथा १९३२ ई० में हंस के आत्मकथांक में प्रकाशित हुई थी। उसी में अन्तिम कुछ पैरा जोड़ कर यहाँ दे रहा हूँ।—लेखक]

'तुमने अपने भविष्य का क्या लक्ष्य रक्खा है? कुछ समझ नहीं पड़ता।'

'कुछ नहीं'—मैंने लापरवाही से कहा।

'क्या घर में अधिक पैसे हैं?'

'अधिक तो नहीं हैं।'

तब स्कूल क्यों आते हो? जब पढ़ना-लिखना नहीं है, तो यहाँ भी अन्य बालकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।'

'घर पर मन नहीं लगता; इसलिये स्कूल आता हूँ'—स्वाभाविक गति से मैंने कहा।

वह चुपचाप चले गये। वह स्कूल के सम्मानित अध्यापक थे। वह मेरा बड़ा आदर करते थे; क्योंकि कक्षा में कभी किसी अन्य विद्यार्थी पर बिगड़ते, तो मेरा नाम लेकर कहते—'तुम भी उसी को तरह बनना चाहते हो?'

मेरा नाम सुनते ही दर्जे के सभी विद्यार्थी मेरी ओर देखने लगते। अन्तिम बेंच पर बैठा हुआ, लज्जित भाव से, मैं अपना मस्तक ऊँचा करता। सब हँस पड़ते। यही मेरी विशेषता थी।

यह सौभाग्य मुझे उस समय प्राप्त हुआ था, जब मैं ऊँचे

दर्जे में चला गया था ! उस समय मैं स्वतंत्र हो गया था—स्वतंत्र उस भाव में, जिसका अर्थ होता है 'आवारा' !

मेरे पितामह का देहान्त हो चुका था। घर में कोई शासन करनेवाला न था। मेरे पिता तो बहुत पहले ही—भरी जवानी में—चल बसे थे ; उस समय मेरी अवस्था चार वर्ष की थी—मेरा छोटा भाई एक वर्ष का था। हम दोनों ही वंश के दीपक थे, अतएव प्यार की भूमि पर खेलता हुआ बचपन आगे बढ़ा।

अपने पिता के सम्बन्ध में तो कुछ भी स्मरण नहीं है। उनके सम्बन्ध में मेरी दादी कहती थीं कि वह बड़े सच्चरित्र, विद्याव्यसनी और गम्भीर पुरुष थे। उनकी जीवन-कहानी सुन कर आज भी हम लोग की आँखें डबडबा उठती हैं।

वह कवि थे ! 'रसिक मित्र' आदि उस समय के पत्रों में बराबर उनकी समस्या-पूर्त्तियाँ निकला करती थीं। हिन्दी का वह आरम्भिक युग था। १९०५ या ६ की 'सरस्वती' में उनकी अँगरेजी से अनुवादित कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। उसी समय 'पीयूष-प्रवाह' नामक मासिक-पत्र उन्होंने (दूसरी बार) निकालना आरम्भ किया था ; किन्तु उसके केवल सात अंक ही निकल पाये, और वह अपने कार्यक्रम को अधूरा छोड़कर चले गये ! उनका नाम था—पं० कालीशंकर व्यास।

बचपन से ही मेरी पढ़ाई पर मेरे पितामह बड़ा ध्यान रखते थे। घर पर कई मास्टर आते थे। आरम्भ से ही पढ़ने में मेरी रुचि न थी। मैं मास्टरों से मुँह छिपाकर घर में घुस जाता था। दादी के लाड़-प्यार ने मुझे निडर बना दिया था।

पितामह की वृद्धावस्था थी। वह प्रायः बीमार ही रहा करते थे। रोगों ने उनके शरीर में अपना घर बना लिया था। ऐसी अवस्था में भी उनका अधिकांश समय होम-पूजा और पुराणों के पाठ में ही व्यतीत होता था।

मैं बाल्यावस्था से ही आत्माभिमानी हूँ। मुझे याद है, एक बार, मेरी पढ़ाई के सम्बन्ध में पूछते हुए, रुष्ट होकर, उन्होंने मेरा कान पकड़ लिया था। मैं रोता हुआ घर में चला गया। प्रति दिन का नियम था कि प्रातः काल उठ कर मैं उन्हें प्रणाम करने जाता था। लेकिन उसके बाद छः सात दिनों तक मैं उनके सामने नहीं गया। अन्त में कई बार बुलवाने पर मैं उनके सामने गया। मुझे देखकर वह मुस्कुराये और प्यार से मेरे सिर पर हाथ फेरने लगे। मैं रोता रहा।

पितामह मेरे बड़े विद्वान थे। उन्होंने अनेकों पुस्तकें लिखी थीं। बाबू हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' की उपाधि देने का उन्हींने प्रस्ताव किया था। वह उनके अन्तरंग मित्रों में से थे। कई पत्रों के वह अवैतनिक सम्पादक भी थे। उनका नाम था—पं० रामशंकर व्यास। उनकी पत्नी (मेरी दादी) रामायण के यशस्वी टीकाकार स्व० पं० रामेश्वर भट्ट की सगी छोटी बहन और लखनऊ-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी-प्रोफेसर स्व० पं० बदरीनाथ भट्ट की सगी बुआ थीं।

१९१६ ई० में मेरे पितामह का देहान्त हुआ। अचानक हमारी छोटी-सी गृहस्थी पर वज्रपात हुआ। उस समय १४ वर्ष कई महीनों की मेरी अवस्था थी।

मैं स्कूल बराबर जाता रहा—एक-एक कक्षा में दो-दो वर्ष फेल होता रहा ! हिसाब में सदैव लड्डू पाता था। अन्त में किसी तरह (प्रमोटेड होकर) आगे के दर्जे में जाता । इसी भाँति मेरे पठन-पाठन का क्रम चलता रहा ।

उस वर्ष मैं छठी कक्षा में पहुँचा। मेरे विवाह की तैयारी होने लगी। मेरे मन में भी एक विचित्र कौतूहल की सृष्टि हुई। घर में चहल-पहल मची। मेरी माँ और दादी की बड़ी लालसा थी, कि मेरा विवाह हो जाय और घर में एक छोटी-सी बहू आ जाय। उन लोगों के उल्लास ने मेरी अबोध प्रसन्नता को पुचकारा।

शुभ मुहूर्त्त में मँडप में मेरा विवाह होने लगा। मेरी पत्नी मेरे बगल में बैठी थी। पंडितों के गड़बड़ मन्त्रोच्चारण को मैं भी दोहराता गया। स्त्रियाँ गा रही थीं। शहनाई बज रही थी। हा-हा-हू-हू के स्वर में सब व्यस्त थे।

उसी मन्त्र-पूजा के प्रयोग में मैंने अपनी पत्नी का मुँह देखा। वह साहित्य में वर्णित कवि कल्पनासी-सुन्दरी नहीं थी। मेरा उत्साह गहरा धक्का खाकर गिर पड़ा। विवाह का कार्य समाप्त हुआ। मैं चुपचाप रात-भर रोता रहा। मेरी गोरी-सी—सुन्दर सी—कल्पना नष्ट हो गई थी। आह ! जीवन के दिन कैसे कटेंगे !

× × ×

स्कूल में विवाहित लड़कों के रखने का नियम नहीं था। मैंने स्कूल छोड़ दिया। मित्रों (!) की संख्या बढ़ने लगी।

बीसवीं सदी की छत्रछाया में जीवन अग्रसर होने लगा। लोगों के कहने से एक दूसरे स्कूल में फिर भर्ती हुआ; लेकिन कुछ महीनों के बाद वहाँ भी दिल नहीं जमा। अन्त में उसे भी छोड़ कर बेकारी से घनिष्ठता कर ली।

उस समय मेरे अनेक व्यसनों में एक उपन्यास पढ़ना भी था। मैं बचपन से भावुक था। मनोरंजन के लिये पुस्तकें पढ़ता, ताश खेलता, हारमोनियम बजाता, हाहा-होही करता। यही मेरी दिनचर्य्या थी।

मेरे पितामह, मेरे लिये, पुस्तकों से भरी हुई दो बड़ी अलमारियाँ छोड़ गये थे। मैं उनमें अपने दिल बहलाने की सामग्री खोजता था। उनमें पत्रिकाओं की फाइलें भी थीं। 'सरस्वती' की फाइल मेरी बड़ी प्रिय वस्तु बन गई। उसकी कहानियाँ और कविताएँ मैं बड़े ध्यान से पढ़ने लगा। उन्हीं दिनों तुकबन्दी भी बनाने लगा। कविता करने की धुन समा गई थी।

एक दिन एक तुकबन्दी बना कर अपने बगलवाले मकान में गया। उसमें स्व० पं० राधाकुमार व्यास रहते थे। वह पं० अम्बिकादत्त व्यास के पुत्र थे। पं० अम्बिकादत्त व्यास मेरे पितामह के बड़े ही घनिष्ठ मित्रों में थे। पं० राधाकुमार व्यास मेरे पिता को बड़े भाई की तरह मानते थे। हमारे और उनके खानदान से कई पुश्त का साथ था।

मैंने उनके सामने पहुँच कर कहा—चाचा, आज एक कविता लाया हूँ, इसे शुद्ध कर दीजिये।

वह पढ़ कर मुस्कुराये। कहने लगे—यह रास्ता अच्छा नहीं है। इसमें पड़ कर मनुष्य अपने आप को बरबाद कर देता है—रसिकता की मात्रा बढ़ने लगती है; फिर वह दुनिया में कुछ भी नहीं कर पाता। यही उनके शब्द थे।

पड़ोस में रहने के कारण, मेरी बेकारी के कार्य-क्रम से, वह अप्रत्यक्ष रूप में परिचित थे। मेरी रसिकता के सम्बन्ध में भी उनकी जानकारी थी। समय-समय पर मैं छन्दों के सम्बन्ध में भी उनसे पूछताछ करता था। उन्होंने कविता ठीक कर दी। पत्रों में मेरी तुकबन्दी छपने लगी। उत्साह बढ़ा।

× × ×

उन्हीं दिनों अपने काका पं० हरिशंकर भट्ट के सत्संग से साहित्य की ओर मेरी रुचि बढ़ने लगी। वह उस समय हिन्दू-विश्वविद्यालय में पढ़ते थे और हमी लोगों के साथ रहते थे। वह मेरे पितामह के भाँजे हैं। वह भी उस समय कविता करते थे। उनकी कविताएँ सुन्दर होती थीं। मेरी बेकारी की दिनचर्य्या उन्हें पसन्द न थी; पर कभी कुछ कहते न थे। गम्भीरता उनकी विशेषता है।

हम दोनों की साहित्यिक रुचि का एक साथ विकास हुआ था। वह अपनी लिखी रचनाएँ मुझे सुनाते और मैं उन्हें। एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा—आखिर तुमने अपने जीवन का लक्ष्य क्या रक्खा है? इस तरह कितने दिन चलेंगे?

मैंने उनकी ओर देखते हुए कहा—मैं लेखक बनूँगा। मैं चित्रकारी भी सीखना चाहता हूँ।

उन्होंने गम्भीर मुस्कुराहट के साथ उत्तर दिया—लेकिन लेखक बनने के लिये भी अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। अभी तुमने पढ़ा ही क्या है ?

मैंने जिज्ञासा-भरे स्वर में पूछा—तब पढ़ूँ कैसे ? स्कूल में भी मन नहीं लगता। बहुत-से विषय समझ में नहीं आते। ज्यामेट्री, अलजबरा और अर्थमेटिक मेरे जानी दुश्मन हैं !

उन्होंने कहा—परिश्रम करो। जो आज तुम्हें कठिन मालूम पड़ता है, वह फिर बहुत आसान हो जायगा।

उनकी बातों का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसी दिन मैंने फिर से स्कूल में नाम लिखाने का निश्चय कर लिया। दिन-भर पढ़ने लगा। गर्मी के दिन थे, सब स्कूल बन्द थे। घर पर दो महीने पढ़ कर, स्कूल खुलने पर, नवीं कक्षा में भर्ती किया जाऊँगा—ऐसा निश्चय हुआ। मैं उन्हीं से अंकगणित समझने की चेष्टा करने लगा। वह हिसाब में बचपन ही से तेज़ थे। अन्त में उन्होंने हिसाब में ही एम० ए०—फर्स्ट-डिवीजन में—पास किया था। आजकल दिल्ली के अरेबिक कॉलेज में मेथमेटिक्स के प्रोफेसर हैं।

स्कूल खुलने पर मैं भर्ती हो गया। दो वर्षों तक फिर स्कूल जाता रहा। मैट्रिक का परीक्षाकाल निकट था। हिसाब में पास होने की कोई सम्भावना न थी। साथ ही, 'परसेंटेज' भी कम था ; अतएव फिर स्कूल छोड़ कर बैठ गया।

मैं स्कूल में भी प्रायः उपन्यास ही ले कर जाता था। उस समय अँगरेजी के उपन्यासों की ओर भी प्रवृत्ति बढ़ रही थी।

अँगरेजी और हिन्दी में मैं तेज़ था, इसलिये अँगरेजी के उपन्यास पढ़ते-पढ़ते उन्हें समझने का अभ्यास हो गया—दिलचस्पी काफ़ी बढ़ गई। फल-स्वरूप इस बार स्कूल छोड़ने के बाद उपन्यास और कहानियों से गाढ़ा स्नेह हो गया। अब दिन-रात घर पर, पलँग पर पड़े-पड़े, उपन्यासों ही के साथ समय काटने लगा। मेरे हृदय पर नागरिक जीवन का सिक्का जमने लगा। अब यहाँ महाकवि बिहारीलाल की यह उक्ति अंकित करके ही इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ—

'किते न अवगुन जग करत, नय बय चढ़ती बार'

हाँ, तो मेरे उपन्यास-पाठ का क्रम जारी रहा। दिन-रात पढ़ता ही रहता था। कभी-कभी मेरी दादी कहतीं कि इस तरह दिन-रात पढ़ने से दिमाग़ ख़राब हो जायगा; पर मैं किसी की न सुनता। उपन्यास ही मेरी खुराक बन गये, मुझे और कुछ भी अच्छा न लगता; किन्तु साथ-साथ स्त्रियों की मनोवृत्ति के अध्ययन में भी कुछ समय जाता था! स्वच्छन्द होने के कारण अनेक प्रकार की सुविधाएँ भी प्राप्त थीं।

उन्हीं दिनों कहानी लिखने की प्रवृत्ति हुई। मैंने दो-एक कहानियाँ लिखीं; पर वे बहुत सुन्दर न थीं। बस इसके बाद ही मेरे साहित्यिक जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्त्तन हुआ। बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी से मेरा परिचय हुआ। 'प्रसाद' जी के खानदान से हम लोगों का कई पुश्त का सम्बन्ध था; अतः 'प्रसाद' जी से दिन-दिन घनिष्ठता बढ़ने लगी। मैं प्रतिदिन उनके पास जाता। वहाँ प्रायः साहित्यिक विषयों पर ही वार्त्तालाप

होता। लगभग सभी छोटे-बड़े लेखक और कवि वहाँ आते थे।

'प्रसाद' जी के सत्संग ने मेरे जीवन की धारा पलट दी—एक नई लहर बह चली। उन्हीं के उत्साहित करने पर मैंने कहानियाँ लिखी। उनके संशोधन और आदेश सदैव मेरे पथ को आलोकित करते रहे। अपने साहित्यिक जीवन के विकास में मैं सबसे अधिक उन्हीं का ऋणी हूँ।

१९२३ ई० से '२९ तक मेरा लेखन कार्य सन्तोष जनक था। इसके बाद प्रकाशकों की कृपा से कुछ कटु अनुभव भी हुए। तब मैंने स्वयं 'पुस्तक-मन्दिर' की स्थापना की। केवल उपन्यास और कहानियों की अच्छी पुस्तकें निकालने का निश्चय किया। ३-४ वर्षों में दो दर्जन उच्चकोटि के उपन्यास और कहानी सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

स्वर्गीय प्रसाद जी की योजना थी कि शुद्ध साहित्यिक पत्र निकाला जाय। हम लोगों का पुस्तक-प्रकाशन में कोई विशेष अनुभव न था। मैं जानता था कि अभी शुद्ध साहित्यिक पत्र निकाल कर उसे अपने बल पर चलाना कठिन है। उस समय हिन्दी में ऐसे पत्र का प्रचार करना कठिन था। अतएव जानते हुए भी पाक्षिक 'जागरण' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। श्री० शिवपूजन जी को उसके सम्पादन का भार सौंपा गया। हिन्दी संसार ने एक स्वर से उसकी सराहना की; किन्तु ग्राहक पचास भी नहीं हो पाये। अन्त में ५-६ हजार का घाटा देकर पत्र प्रेमचन्द जी को दे दिया गया। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी का

भी ९-१० हजार रुपया खाकर 'जागरण' अन्त में बन्द ही हो गया।

हिन्दी का साहित्यिक वातावरण इतना दूषित मालूम पड़ा कि इन झंझटों से मेरा अलग हो जाना ही उपयुक्त प्रतीत हुआ। मैंने साहित्य से अवकाश ग्रहण किया। आरम्भ से मेरा सिद्धान्त है कि रोटी का प्रश्न मैं साहित्य से कभी हल नहीं करना चाहता। अतएव अन्य कार्यों द्वारा आर्थिक समस्या सुलझा लेना ही मुझे पसन्द है। स्व० प्रसाद जी और अधिकांश मेरे साहित्यिक मित्र न लिखने के कारण बराबर व्यंग्य करते थे। मैं चुपचाप अपनी धुन में लगा था। १९४२ ई० से फिर मैं लेखन और पुस्तक-प्रकाशन के कार्य में लगा हूँ।

सम्मतियाँ

आज—श्री० विनोदशङ्कर व्यास हिन्दी के प्रसिद्ध कहानी-लेखक हैं। सीधी सादी सरस भाषा में भाव प्रधान कहानियाँ लिख कर सिद्धहस्त लेखक ने अपना कल्पना-कौशल प्रदर्शित करने में बड़ी सफलता पाई है।

भारत—पं० विनोदशङ्कर व्यास अपनी भाव-पूर्ण, मार्मिक एवं मौलिक कहानियों के लिए प्रसिद्ध हैं।

कर्मवीर—पं० विनोदशङ्कर व्यास उस स्कूल के यशस्वी लेखक हैं, जो घटनाओं की अपेक्षा भावों को अधिक मान देता है।

विश्वमित्र—व्यास जी हिन्दी के एक अच्छे कहानी लेखक माने जाते हैं।

संघर्ष—पं० विनोदशङ्कर व्यास हिन्दी के माने हुए लघु कथा लेखक हैं।

स्वदेश—व्यास जी अपनी छोटी कहानियों के लिए प्रसिद्ध हैं।

देश—पं० विनोदशङ्कर व्यास हिन्दी के कीर्त्तिशाली कहानी लेखक हैं।

श्री प्रेमचन्द जी—आपकी भाषा में चोट होती है और चित्र कुछ ऐसे Elvsive होते हैं, मानो स्वप्न-चित्र हैं और इसी लिए उनमें रोमानी झलक होती है।

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक—व्यास जी छोटी २ कहानियाँ लिखने में सिद्धहस्त हैं।

श्री० जी० पी० श्रीवास्तव—श्री० व्यास जी एक जबरदस्त कहानी लेखक हैं। उनकी लेखनी में सजीवता और निर्भयता का पूरा आभास रहता है।

श्री० मैथिलीशरण गुप्त—·········लेखनी में मुझे गति मालूम पड़ती है। स्वच्छन्दतापूर्वक तोड़े लेकर जब वह अपनी ताल पर आकर अचानक रुकती है, तब भी मानो अपने आवेश के कारण वह चंचल रहती है वेग सम्हालने में भी एक मुद्रा बन जाती है। मैंने आपकी रचना से आनन्द प्राप्त किया है, इसीलिए इसका अभिनन्दन करता हूँ।